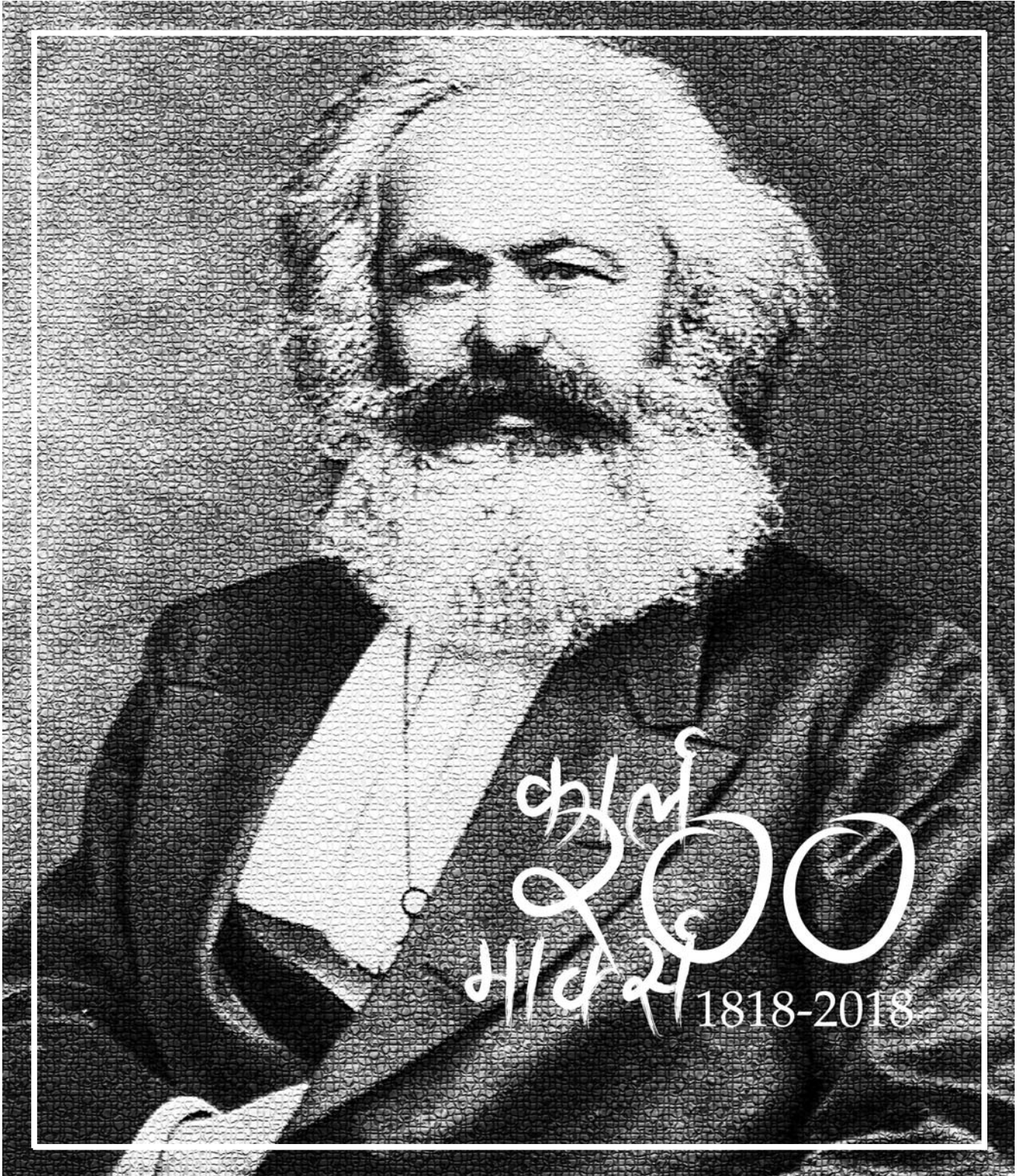


# समरथ

अप्रैल-जून 2018 • नई दिल्ली



## नाहि तो जन्म नसाई

कुछ महीने पहले एक अंतर्राष्ट्रीय समाचार एजेंसी ने सरकारी सूत्रों के माध्यम से खबर दी थी कि सरकार ने एक कमेटी गठित की है जिसका उद्देश्य इस पर विचार करना है कि मुल्क का इतिहास नए सिरे से किस प्रकार लिखा जाए। इस कमेटी के उद्देश्य में यह भी शामिल है कि पुरातत्व विज्ञान और डीएनए आदि की बुनियाद पर यह सिद्ध किया जाए कि आज की बहुसंख्यक आबादी (हिंदू) यहां के प्राचीन वासियों की वंशज है। और भारतीय संस्कृति की उत्पत्ति लगभग बारह हजार वर्ष पूर्व हुई। यह सिद्ध करना भी इस कमेटी की अनुशंसाओं में होगा कि प्राचीन ग्रंथ वेद, पुराण और महाकाव्य आदि ऐतिहासिक और वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित हैं।

आपको याद होगा कि हमारे प्रधानमंत्री ने मुंबई में एक अस्पताल का उद्घाटन करते हुए डाक्टरों और चिकित्साकर्मियों की उपस्थिति में भगवान गणेश और महाभारत के एक पात्र कर्ण के हवाले से प्लास्टिक सर्जरी और जैनेटिक साइंस के क्षेत्र में प्राचीन भारत की उपलब्धियों का बड़े गर्व के साथ उल्लेख किया था। इसके कुछ दिनों बाद गुजरात के तत्कालीन मुख्यमंत्री ने भी एक अवसर पर राम के तीरों की तुलना आज की मिसाइलों से की थी और अभी चंद सप्ताह पहले उत्तर प्रदेश सरकार के एक कैबिनेट मंत्री, सीताजी को टेस्ट ट्यूब बेबी बता चुके हैं। साथ ही धृतराष्ट्र के सारथी संजय को मिली दिव्य दृष्टि के हवाले से यह भी दावा कर चुके हैं कि किसी घटना का लाइव टेलीकास्ट कोई आज का वैज्ञानिक चमत्कार नहीं बल्कि हम हजारों साल पूर्व यह कारनामा अंजाम दे चुके हैं।

केंद्र और विभिन्न राज्यों में सत्तारूढ़ पार्टी जिस सांस्कृतिक संगठन से अपनी वैचारिक शक्ति प्राप्त करती है उसका एजेंडा जगजाहिर है और उपरोक्त कमेटी का गठन उसके उद्देश्य और उसका यह कहना कि उसके निष्कर्षों को पाठ्यक्रम का भाग बनाने की कोशिश की जाएगी, यह सिद्ध करता है कि यह सब कुछ एक सोची-समझी योजना के तहत हो रहा है। प्रधानमंत्री और दीगर मंत्रियों के उपरोक्त कथनों को भी इसी रोशनी में देखना चाहिए।

इतिहास का पुनर्लेखन कोई गलत बात नहीं है। असल मामला यह है कि इतिहास पुरातात्विक, सामाजिक और राजनैतिक तथ्यों पर आधारित होता है जिन्हें विभिन्न दृष्टिकोणों से बार-बार जांचा और परखा जाता है। और यह एक निरंतर प्रक्रिया है। गढ़े हुए तथ्यों के आधार पर इतिहास का निर्माण नहीं हो सकता।

जहां तक प्राचीन भारत की शान और वैभव का प्रश्न है उससे किसी को इंकार नहीं। विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में उसका एक उच्च स्थान है। पूरे विश्व को उसने बहुत कुछ दिया है और उसका इतिहास, विश्व इतिहास से अलग नहीं हो सकता लेकिन दुनिया में पिछले पाँच सौ वर्षों और विशेष रूप से पिछली दो शताब्दियों में साइंस और टेक्नोलॉजी और दीगर क्षेत्रों में जो आश्चर्यजनक कारनामे अंजाम दिए गए हैं और जो पूरी मानव जाति की धरोहर हैं उनका सेहरा अपने सिर बाँधना क्या जग हंसाई नहीं होगी?

## कल, आज और कल

### ■ अनजुम सईद

कब तलक होकर रहे

ओहाम-ए-बातिल<sup>1</sup> का असीर<sup>2</sup>

कब तलक ढोता रहे कंधों पे वो

माज्जी<sup>3</sup> की लाश

कब तलक पाबंद-ए-जंजीरे अकायद<sup>4</sup> हो रहे

कब तलक भटका करे वो

आस्था की धुंध में

अहदे रफता<sup>5</sup> के ख्यालों में हो

गुम शाम ओ सहर<sup>6</sup>

बेखबर इससे कि कल

ये आज भी

अहदे रफता में ही ज़म<sup>7</sup> होने को है।

1.) झूठे वहम

2.) कैदी

3.) भूतकाल

4.) आस्था की बेड़ियों में बंधा हुआ

5.) गुजरा ज़माना

6.) प्रभात

7.) लीन

## 2 • समरथ

अप्रैल-जून 2018

---

## जो नेहरू सोचते थे, कैसे आज भी वही सांप्रदायिकता का सबसे सटीक इलाज लगता है?

जवाहरलाल नेहरू ने १९४० के दशक में तत्कालीन राजनीतिक पार्टियों और धार्मिक संगठनों द्वारा फैलाई जा रही सांप्रदायिकता को बहुत बारीकी से देखा-समझा था।

### ■ अव्यक्त

---

1940 के दशक के मध्य में सांप्रदायिक स्तर पर भारत के विभाजन की पृष्ठभूमि लगभग तैयार हो चुकी थी। सांप्रदायिकता वह राजनैतिक शै है जो पैदा तो धर्म के नाम पर होती है, लेकिन असल इंसानी धर्म से उसका दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं होता। एक और सच्चाई यह भी है कि जाने-अनजाने इसमें अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक कहे जाने वाले सभी समुदाय अपना-अपना नकारात्मक योगदान देते हो सकते हैं। जवाहरलाल नेहरू को इसका बहुत नज़दीक से अनुभव हुआ था। घटना कुछ ऐसी थी कि कांग्रेस के एक मुस्लिम नेता को छुरा मार दिया गया, लेकिन मुस्लिम लीग के किसी भी नेता ने इसकी निंदा नहीं की। बल्कि मुस्लिम लीग द्वारा हत्यारे को माफ़ी के क़ाबिल समझा गया। इसके अलावा एक नया सिलसिला चल पड़ा था, जिसमें कांग्रेस की सरकार वाले सूबों के बारे में रोज़-रोज़ और बार-बार यह दोहराया जाने लगा कि ये सरकारें मुसलमानों पर 'जुल्म' कर रही हैं।

स्वयं नेहरू के शब्दों में—'ये 'जुल्म' क्या थे, यह आमतौर पर नहीं बताया गया। छोटी-छोटी मुक़ामी घटनाओं को, जिनका सरकार से कोई ताल्लुक नहीं था, तोड़ा-मरोड़ा गया और उनको बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया। कुछ महकमों

की कुछ छोटी-छोटी ग़लतियां, जिनको फ़ौरन ही ठीक कर दिया गया, 'जुल्म' बन गईं।' नेहरू आगे लिखते हैं—'...मुस्लिम लीग के मेंबरों और उससे हमदर्दी रखने वाले लोगों की तरफ़ से मुस्लिम जनता को यह विश्वास दिलाने का ज़बरदस्त आंदोलन चल रहा था कि बड़ी भयंकर घटनाएं घट रही हैं और उसके लिए कांग्रेस कुसूरवार है। वे 'भयंकर बातें' क्या थीं, यह किसी को भी नहीं मालूम था। लेकिन यह बात तय है कि इस शोर और हुल्लड़ के पीछे यहां नहीं तो कहीं-न-कहीं कुछ-न-कुछ ज़रूर रहा होगा। उप-चुनावों के मौकों पर यह आवाज़ उठाई गई कि इस्लाम ख़तरे में है और मुस्लिम लीगी उम्मीदवार को वोट देने के लिए मतदाताओं से कुरान की कसम खाने को कहा गया।'

इस तरह नेहरू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया' में अविभाजित भारत के समय की अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक वाली सांप्रदायिक राजनीति का बखूबी चित्रण किया है। लेकिन यदि तटस्थ रूप से समझने की कोशिश करें और तत्कालीन 'मुस्लिम लीग' को संदेह का लाभ (बेनिफिट ऑफ़ डाउट) देने की कोशिश करें, तो हम कह सकते हैं कि संभव है मुसलमानों के एक बड़े हिस्से

को झूठा ही सही, लेकिन यह सचमुच लग रहा हो सकता है कि उनके साथ 'जुल्म' और 'भयंकर घटनाएं' घट रही थीं। इसलिए किसी भी समाज में 'अल्पसंख्यकों' के इस कल्पित असुरक्षा और अतिरेकपूर्ण पीड़ाबोध (विक्टिमहुड) के मनोविज्ञान को समझना बहुत जरूरी है। क्योंकि यही

बीमारी आगे जाकर उस समाज के बहुसंख्यक तबके में भी बहुत तेजी से फैलती है और अविश्वास, प्रतिक्रिया, ध्रुवीकरण और अलगाव की पृष्ठभूमि तैयार होने लगती है।

आजादी के बाद भले ही भारत की डेमोग्राफी या जनसांख्यिकी परिस्थितियां काफी बदल गईं हों। भले ही, भारतीय संविधान के निर्माताओं ने अपनी परिपक्व दृष्टि का परिचय देते हुए इसमें अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के पर्याप्त इंतजाम किए हों, लेकिन बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक का एक अविश्वासपूर्ण राजनीतिक द्वैध दुर्भाग्य से बना ही रह गया।

देखा जाए तो न्याय, मानवीयता और उदारता का पलड़ा हमेशा ही अल्पसंख्यकों की ओर थोड़ा झुका होता है। क्या करें! सामाजिक मूल्यों के हिसाब से उदारता की यही कसौटी हम सब मानकर चलते हैं। यदि मोटरसाइकिल और साइकिल सवार की टक्कर हो जाए, तो दोष हम मोटरसाइकिल वाले को ही देते हैं, भले ही थोड़ी गलती साइकिल वाले की भी क्यों न हो। ऐसा ही कार और मोटरसाइकिल की टक्कर की स्थिति में हमारी स्वाभाविक सहानुभूति मोटरसाइकिल सवार के साथ होती है।

कुछ-कुछ ऐसी ही स्थिति किसी भी समाज में बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समुदाय के मामले में लागू होती है। बहुसंख्यक समुदाय से हमें ज्यादा जिम्मेदारी और उदारता की अपेक्षा होती है। लेकिन भारतीय समाज में शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, भूमि और अन्य महत्वपूर्ण आर्थिक संसाधनों के वितरण के स्तर पर घोर असमानता मौजूद रही है। ऐसे में उपरोक्त उदारतावादी आदर्श को व्यावहारिक रूप से लागू कर पाने में राजनीतिक अड़चनें रही हैं। दिनोंदिन

बढ़ रहे सांस्कृतिक अलगाव और अविश्वास ने इसे और भी जटिल बना दिया है। ऐसी स्थिति में हमें नेहरू के विचारों में आज की दोतरफा सांप्रदायिक राजनीति को भी समझने की कुंजी मिलती है। हम सबके अवचेतन में भरे सतही पीड़ाबोध (विक्टिमहुड) से जनित सांप्रदायिकता से अक्सर हम अनजान ही बने रहते हैं।

**'...हिन्दुस्तान का सारा इतिहास अल्पसंख्यकों या विचित्र जातीय समुदाय के प्रति सहनशीलता का ही नहीं, बल्कि प्रोत्साहन का साक्षी था। यूरोप में जैसे तीखे धार्मिक झगड़े रहे, और जैसा धार्मिक उत्पीड़न हुआ, उस ढंग की चीज हिन्दुस्तान के इतिहास में कहीं भी दिखाई नहीं देती।'**

इसलिए बने-बनाए विचारधारात्मक खांचों से निकलकर देखेंगे, तभी इस दुश्क्र से बाहर निकलने का रास्ता मिलेगा। 40 के दशक में मध्य में नेहरू क्या खूब लिखते हैं — 'सांप्रदायिक समस्या में अल्पसंख्यकों के अधिकारों का इस तरह मेल बिठाना था कि जिसमें बहुसंख्यकों की कार्रवाई के खिलाफ उन्हें काफ़ी संरक्षण हो। यहां यह बात ध्यान रखने की है कि हिंदुस्तान के अल्पसंख्यक यूरोप की तरह प्रजातीय (रेशियल) या अलग राष्ट्रीयता वाले अल्पसंख्यक नहीं हैं—वे धार्मिक रूप से अल्पसंख्यक हैं। प्रजातीय (या जातीय) रूप से

हिंदुस्तान में एक अजीब मिश्रण है, लेकिन यहां प्रजातीय सवाल न तो उठे हैं और न उठ ही सकते हैं। इन जातीय भिन्नताओं के ऊपर धर्म है, जो एक-दूसरे में घुला-मिला हुआ है, और उनको अलग-अलग पहचानना अक्सर मुश्किल होता है। जाहिर है धार्मिक दीवारों स्थायी नहीं होतीं, क्योंकि एक से दूसरे में धर्म-परिवर्तन हो सकता है और धर्म बदलने से उस आदमी की जातीय पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक और भाषा संबंधी विरासत मिट नहीं सकती।'

नेहरू आगे लिखते हैं— 'लफ़्ज के असली मायनों में, धर्म ने हिन्दुस्तानी राजनैतिक झगड़ों में करीब-करीब कोई हिस्सा नहीं लिया। हां, वैसे इस लफ़्ज का अक्सर इस्तेमाल किया जाता है और उससे नाजायज़ फ़ायदा उठाया जाता है। अपने सहज रूप में धार्मिक मतभेदों से कोई अड़चन नहीं होती, क्योंकि उनमें आपस में बहुत भारी सहनशीलता है। राजनैतिक मामलों में धर्म की जगह सांप्रदायिकता ने ले ली है। सांप्रदायिकता वह संकरी मनोवृत्ति है, जिसने अपनी बुनियाद किसी धार्मिक गिरोह पर बना ली है, लेकिन

जिसका मक़सद दरअसल राजनैतिक ताकत अपने हाथ में कर लेना और अपने समुदाय को बढ़ावा देना है।’

आगे इसी अध्याय में एक स्थान पर नेहरू लिखते हैं—‘...हिन्दुस्तान का सारा इतिहास अल्पसंख्यकों या विचित्र जातीय समुदाय के प्रति सहनशीलता का ही नहीं, बल्कि प्रोत्साहन का साक्षी था। यूरोप में जैसे तीखे धार्मिक झगड़े रहे, और जैसा धार्मिक उत्पीड़न हुआ, उस ढंग की चीज हिन्दुस्तान के इतिहास में कहीं भी दिखाई नहीं देती। इसलिए धार्मिक और सांस्कृतिक उदारता और सहनशीलता के विचारों को सीखने के लिए हमको कहीं बाहर नहीं जाना था; ये बातें हिन्दुस्तान की ज़िंदगी में शुरू से थीं।’

...तब क्या बात बाकी थी? यह डर कि बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों को राजनीतिक रूप से दबा देंगे। साधारणतया इस तादाद के मानी थे किसान और मजदूर, जिनमें हर धर्म के मानने वाले आम लोग थे, जिनको बहुत अरसे से सिर्फ विदेशी राज्य ने ही नहीं, बल्कि खुद ऊंचे वर्ग के लोगों ने चूसा था। धर्म और संस्कृति की हिफ़ाज़त का आश्वासन देने के बाद जो बड़े मसले सामने आते थे, वे आर्थिक होते, और उनका किसी आदमी के धर्म से कोई ताल्लुक न होता; और अगर धर्म खुद किसी निहित स्वार्थ की नुमाइंदगी न करे, तो धार्मिक झगड़ों का कोई सवाल ही नहीं था। हां, वर्ग संघर्ष शायद होते।

...फिर भी लोग धार्मिक-विच्छेद की दिशाओं में सोचने के आदी हो गए थे और सरकारी नीति (ब्रिटिश) और सांप्रदायिक और धार्मिक संस्थाओं से इसके लिए बराबर बढ़ावा मिलता रहता था कि यह डर कि बहुसंख्यक धार्मिक जाति, यानी हिंदू जाति, दूसरों को दबा लेगी। यह डर बहुत से मुसलमानों के दिमाग में बना रहा। यह बात समझ में नहीं आती थी कि मुसलमानों जैसी बड़ी अल्पसंख्यक जाति के हितों को कोई बहुसंख्यक जाति भी किस तरह चोट पहुंचा सकती है; क्योंकि मुसलमान खासतौर से देश के कुछ हिस्सों में केंद्रित थे और ये हिस्से खुदमुख्तार होते। लेकिन भय में तर्क कहां होता है।’

और फिर नेहरू लिखते हैं—‘...हिंदुओं की खास सांप्रदायिक संस्था हिंदू महासभा है, जो मुस्लिम लीग के बर-अक्स है और मुक़ाबले में कम महत्व की है। लीग की तरह वह भी आक्रामक रूप से सांप्रदायिक है, लेकिन वह अपने दृष्टिकोण की संकीर्णता को कुछ अस्पष्ट राष्ट्रीय शब्दावली में छिपाने की कोशिश करती है। वैसे उसका

दृष्टिकोण प्रगतिशील नहीं है और वह फिर से बीते हुए युग को वापस लाना चाहती है। उसे बदक्रिस्मती से कुछ ऐसे नेता मिले हैं, जो मुस्लिम लीग के नेताओं की तरह बहुत ग़ैर-ज़िम्मेदार और उत्तेजक बकवास करते हैं। यह लफ़्ज़ी लड़ाई, जो दोनों तरफ से चलती रहती है और बराबर झुंझलाहट पैदा करती है। असल काम करने की जगह दोनों तरफ यही बकवास चलता रहता है।’

ध्यान रहे कि नेहरू ने यह बात अविभाजित भारत के दौर में लिखी थी जब अल्पसंख्यक होते हुए भी मुसलमानों की आबादी बहुत ज्यादा थी। खास इलाकों में वे बहुसंख्यक भी थे। लेकिन प्रकारांतर से देखें, तो मूल मसला अब भी कमोबेश वही है। सेकुलरिज़्म की एक अस्पष्ट सी प्रचलित अवधारणा दरअसल इतनी रूढ़ हो चुकी है कि वास्तव में भारत का कोई भी धार्मिक समुदाय इसे व्यावहारिकता में आत्मसात करने को मानसिक रूप से तैयार ही नहीं हो पाता। आज बहुसंख्यकवाद का हाथी यदि हमारी पकड़ से बाहर निकलता जा रहा है, तो इसका एक कारण ‘बहुसंख्यक’ और ‘अल्पसंख्यक’ दोनों के ही मानस को वास्तविकता के धरातल पर समझने में हुई चूक भी हो सकता है।

भारत में प्रतिक्रियावादी राजनीति जिस दिशा में बढ़ रही है उसे देखते हुए नेहरू के इन बेबाक वक्तव्यों को एकदम निर्मोही होकर समझना होगा। भारत में सांप्रदायिकता की समस्या दरअसल मनोवैज्ञानिक समस्या ज्यादा है। और यह दोतरफा या बहुतरफा है। एक अज्ञात और अबूझ-सा डर, अंतहीन विक्टिमहुड, काल्पनिक असुरक्षा और बीमार करने वाली सामूहिक और सामुदायिक आत्महीनता—यह सब मिलकर विभिन्न समुदायों के बीच गलतफहमियों की मानसिक दीवारें पैदा कर देता है। और इस सबके ऊपर सबकी अपनी-अपनी मूढ़ धार्मिक आस्थाएं तो जैसे नीम चढ़े करेले की भांति कार्य करती हैं। आखिरकार ये सब मिलकर ही हमारी सहिष्णुता को, हमारे आपसी प्रेम और भाईचारे को, आपसी सम्मान और विश्वास को खाते जाते हैं। भारत के बहुसंख्यकों, प्रभावशाली अल्पसंख्यकों और हाशिए पर पड़े अनगिनत प्रकार के अल्पसंख्यकों, इन सबको अपने-अपने स्तर पर बहुत कुछ सीखना और बदलना होगा। इसके साथ वैचारिक लोगों में भी नेहरू की सी बेबाकी चाहिए होगी।

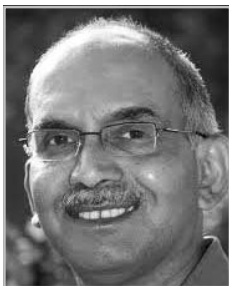
साभार : सत्याग्रह

---

## हमारा भविष्य नहीं, नया अतीत गढ़ना चाहते हैं

■ राजेन्द्र धोड़पकर

---



*अगर यह देखें कि भविष्य की जगह भारत का नया अतीत लिख रही ताकतों के निशाने पर इतिहास के कौन से कालखंड हैं तो समझ में आ जाएगा कि उनकी कोशिश क्या है।*

**प्रसिद्ध** चेक उपन्यासकार मिलान कुंदेरा के उपन्यास 'द बुक ऑफ़ लॉफ़्टर एंड फॉर्गेटिंग' के शुरु में एक व्यक्ति अपने गांव जा रहा है ताकि वह अपनी स्मृतियों को ताज़ा कर सके। एकाधिकारवादी सत्ता के तहत रहते-रहते उसे लगता है कि वह अपनी स्मृति को खो रहा है। वह कहता है—सत्ता के खिलाफ़ संघर्ष भूलने के खिलाफ़ संघर्ष है।

मिलान कुंदेरा अगले साल नब्बे के हो जाएंगे। पिछले करीब 50 साल से वे फ्रांस में रह रहे हैं। तत्कालीन चेकोस्लोवाकिया की कम्युनिस्ट सरकार ने उन्हें बेदखल कर दिया था। मिलान साम्यवाद के विरोधी रहे हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि वे पूंजीवादी सत्ताओं के समर्थक हैं। उनका मानना रहा है कि सत्ताएं अक्सर व्यक्ति की स्वतंत्रता छीनने के लिए एक से तुरीके अपनाती हैं।

कुंदेरा के लेखन में निजी और सामूहिक स्मृति का बड़ा महत्व है। उनके लेखन में यह बात बार बार उभरती है कि सत्ताएं व्यक्ति और समाज पर राज करने के लिए उनकी स्मृतियों को नियंत्रित करना चाहती हैं। व्यक्ति हो या समाज, उनका व्यक्तित्व उनकी स्मृतियों से ही बनता है। अगर उनकी स्मृतियों को अपनी मर्जी के अनुसार बदला जा सके तो फिर उन्हें अपनी मर्जी के अनुसार चलाया भी जा सकता है। कुंदेरा एक जगह कहते हैं कि इसीलिए जो

एकाधिकारवादी सत्ताएं आपके भविष्य को बदलने का दावा करती हैं, वास्तव में उनका सारा जोर आपके अतीत पर होता है।

भारत में इन दिनों इतिहास को लेकर जैसी सिरफुटौव्वल मची है उसे इस संदर्भ में समझा जा सकता है। इसलिए इस बात से हैरान होने की जरूरत नहीं है कि हमारी सरकार और उससे जुड़े लोग जो हमारे लिए अच्छे दिन लाने का वादा करके सत्ता में आए थे वे इतिहास पर क्यों जुटे पड़े हैं। इन्हें कोई यह क्यों नहीं पूछता कि भाई अच्छे दिन तो भविष्य में आने चाहिए, तो आप इतिहास पर क्यों इतना जोर लगा रहे हैं?

वास्तविकता यह है कि इन ताकतों का उद्देश्य देश का भविष्य नहीं, अतीत बदलना है। यदि आप समाज की स्मृतियों की अपने हिसाब से प्रोग्रामिंग करने में कामयाब हो गए तो आप उसके भविष्य की गतिविधियों और चिंतन को भी अपनी मर्जी से प्रोग्राम कर पाएंगे। अगर किसी समाज में स्मृतियों के अनेक स्तर हैं, उनमें विविध प्रवाह हैं तो उसे नियंत्रित करना आसान नहीं होगा। उसमें स्वतंत्र चिंतन और गति की संभावनाएं बनी रहेंगी।

अभी भारत में जो लोग एक नया इतिहास बनाने की कोशिश कर रहे हैं, वे हिंदुत्ववादी हैं। अगर हम यह देखें कि उनके निशाने पर इतिहास के कौन से कालखंड हैं तो

यह समझ में आ जाएगा कि उनकी कोशिश क्या है। उनके निशाने पर भारतीय इतिहास के दो कालखंड हैं—पहला आज़ादी की लड़ाई का दौर और दूसरा मुग़ल काल।

हिंदुत्ववादी राजनीति का आधार ही हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य और दुश्मनी है और इन दोनों कालखंडों में भारत के इतिहास में सर्वधर्मसमभाव का पक्ष प्रबल रहा है। आज़ादी की लड़ाई के दौर में महात्मा गांधी के नेतृत्व में जो आंदोलन था, वही सबसे प्रबल था और हिंदू मुस्लिम एकता उसके मुख्य आधारों में से एक रही है। जो लोग सशस्त्र संघर्ष की राह पर चल रहे थे उनके भी बुनियादी सिद्धांतों में धर्मनिरपेक्षता थी। हिंदुत्ववादी या मुस्लिम लीगी अंग्रेजों के खिलाफ़ लड़ाई में कहीं नहीं थे। इसी वजह से पाकिस्तान में जो इतिहास पढ़ाया जाता है उसमें आज़ादी की लड़ाई ही गायब है और हिंदू-मुस्लिम विरोध केंद्र में है।

हमारे यहां यह संभव नहीं था कि आज़ादी के आंदोलन को गायब कर दिया जाता क्योंकि आज़ादी की लड़ाई लड़ने वाले लोगों के हाथ ही सत्ता आई। जवाहरलाल नेहरू से हिंदुत्ववादियों का विरोध इसलिए है क्योंकि आज़ादी और सांप्रदायिक आधार पर विभाजन के बावजूद उन्होंने आज़ादी के आंदोलन के धर्मनिरपेक्षता के मूल्य को आज़ाद भारत में भी बनाए रखा इसके अलावा उन्होंने एक सच्चे लोकतांत्रिक नेता की तरह वैचारिक और सांस्कृतिक विविधता को प्रोत्साहित किया। इसलिए नेहरू, सरदार पटेल और भगत

सिंह को लेकर तरह-तरह की कहानियां गढ़ी जाती हैं।

यह भी दिलचस्प है कि हिंदुत्ववादियों का विरोध मुग़ल काल और उसमें भी अकबर को लेकर है। तुग़लक़ या लोदी वंश के राज को लेकर वे बात नहीं करते। इसकी वजह यह है कि अकबर हिंदू-मुस्लिम विद्वेष की अवधारणा के खिलाफ़ खड़े दिखते हैं जो कि हिंदुत्ववादी सिद्धांत की बुनियाद है। अकबर के ही इस सिलसिले को काफी हद तक जहांगीर और शाहजहां ने भी जारी रखा। छत्रपति शिवाजी ने औरंगज़ेब को जो पत्र लिखवाकर भेजा उसमें उन्होंने यही लिखा था कि औरंगज़ेब सम्राट अकबर, जहांगीर और शाहजहां जैसे महान पूर्वजों की सर्वधर्मसमभाव की नीति पर नहीं चल रहे हैं।

अकबर, गांधी और नेहरू भारतीय इतिहास में सर्वधर्मसमभाव के सबसे महान और यशस्वी उदाहरण हैं। अगर इन्हें बदनाम कर दिया जाए तो पिछले हजार साल के इतिहास के हिंदू-मुस्लिम द्वंद का इतिहास साबित करना उतना मुश्किल नहीं होगा। यह हमारी सामूहिक स्मृति को विकृत करके उसे मनचाही दिशा में मोड़ने की कोशिश है।

अब यह हमारे ऊपर है कि हम अपनी स्वाभाविक स्वतंत्र स्मृति को बनाए रखते हैं या किसी कंप्यूटर की तरह अपने को प्रोग्राम करने और अपना इस्तेमाल करने का हक़ किसी को दे देते हैं।

साभार : सत्याग्रह

---

## देवेंद्र सत्यार्थी : लोकगीतों के लिए

### जिनकी लगन के गांधी और नेहरू भी कायल थे

लोकक्यात्री देवेंद्र सत्यार्थी ने भारतीय उपमहाद्वीप की 50 भाषाओं के लगभग तीन हजार लोकगीतों का ऐसा खजाना तैयार किया जो हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि हैं

#### ■ कविता

---

‘कह लूवान किट जयस्यो /पावस घर पड़ियाह /  
हिये नवोरा नार नना /बालम बीछदीयाह।’ (कहो लू, तुम कहां जाओगी? जब धरती पर पावस ऋतु आ जाएगी तो मैं उस नवविवाहिता के हृदय में जा बसूंगी जिसका बालम बिछड़ गया हो।)

विरह के रंग में रंगा राजस्थान का यह लोकगीत उस विराट भंडार का हिस्सा है जो देवेंद्र सत्यार्थी ने जगह-जगह भटकते हुए जुटाया। विराट विविधता से भरे भारतीय उपमहाद्वीप के इन गीतों को इकट्ठा करने की कवायद सागर को अंजुरी में समेटने की कोशिश जैसी थी। लेकिन लगभग असंभव से लगते इस कार्य को उन्होंने क्या खूब अंजाम दिया यह इससे समझा जा सकता है कि इस लोकक्यात्री ने 50 भाषाओं के लगभग तीन हजार गीतों का ऐसा खजाना तैयार कर दिया जो हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है।

28 मई 1908 को पंजाब के संगरूर में जन्मे देवेंद्र सत्यार्थी एक ऐसे यायावर थे जिसकी जेब भले ही खाली हो झोलियां लोकगीतों से अंटी होतीं। लोकगीतों की खोज, उनके अनुवाद और उन्हें लिपिबद्ध करके सुरक्षित करने को उन्होंने हमेशा अपने घर-संसार से अधिक महत्व दिया। उन्हें सिर्फ चार भाषाएं ही आती थीं—अंग्रेजी, हिंदी, उर्दू और गुरुमुखी यानी पंजाबी। लेकिन भाषा की जानकारी का न होना या कम होना सत्यार्थी के इस आन्दोलन में कभी बाधक नहीं हुआ। वे जहां जाते वहां

किसी एक नौजवान को पकड़ते, उससे उन गीतों का अनुवाद जानते और उसे लिपिबद्ध कर देते।

देवेंद्र सत्यार्थी ने जो लोकगीत इकट्ठा किए उनमें प्रेम, विरह, देशप्रेम, भाईचारा, गुलामी की फांस, साहूकारों-जमींदारों का शोषण और अंग्रेजी सरकार के विरोध के रंग भी भरे पड़े हैं और दूसरी तरफ अकाल,बाढ़ और सूखे के वर्णन भी। वे यह देखकर चकित भी होते थे कि तमाम भोगौलिक दूरियों और असमानताओं के बावजूद लोगों की सोच एक जैसी ही थी। दरअसल आंसू और मुस्कान के अर्थ तो सभी जगह एक ही होते हैं। इसलिए लोकगीत भी मिलते-जुलते हुए ही थे। एक पंजाबी लोकगीत में कहा गया है कि देवता भी पुलिस से डरते हैं। सांप्रदायिक सद्भाव का एक गीत सत्यार्थी को कश्मीर से मिला जिसमें कहा गया है, बाबा आदम के दो पुत्र हुए जिनमें से एक कब्र में जा सोया और एक ने श्मशान की राह ली।

19 साल की उम्र से ही देवेंद्र सत्यार्थी ने लोकगीतों की खोज में भटकना शुरू कर दिया था। इस क्रम में उन्होंने देश ही नहीं भूटान,नेपाल और पाकिस्तान की सड़कों की भी धूल फांकी। उनके पैरों में छले होते रहे, उनसे खून बहता रहा, बीमारियां जान को लगती रहीं, पर उन्हें कभी भी इसका गम न रहा। धुर जाड़ों की रात में वे कभी फुटपाथों पर गीत-कहानियां सुनते रातें बिता देते तो कभी किसी पेड़ के नीचे ही किसी की दी चादर बिछाकर सो



रहते। इस अनूठी यात्रा में किसान, माली, शिल्पकार, बढ़ई और चर्मकार तक तमाम तरह के लोग उनके सहचर और पथ प्रदर्शक हुए।

यह सिलसिला कोई नया भी न था। बचपन में जब उनके पिता घर बुलाकर मोची को उनके जूतों का काम दिलवाते या फिर जिल्दसाज को किताबें ठीक करने को देते तो वे चुपके से उनके साथ उनके घर चल देते। मकसद होता उनका काम सीखना और गीत सुनना। बचपन से उन्हें मौसियां और भाभियां प्यारी रहीं क्योंकि उनके पास लोक गीतों के खजाने थे। स्कूली शिक्षा उन्हें खास रास नहीं आई। लोकगीतों की पुकार उन्हें अनजान रास्तों की तरफ खींचती रहती। सो एक दिन वे सब छोड़कर इस आवाज के पीछे दीवानावार होकर चल पड़े। बदले में कई बार उन्हें उपेक्षा मिली। घर-बार छोड़कर गीतों के पीछे भटकना आम दुनियावी लोगों की समझ में आने वाली बात थी भी नहीं। हालांकि तब के तमाम बड़े नाम इस काम के लिए सत्यार्थी के प्रशंसक रहे।

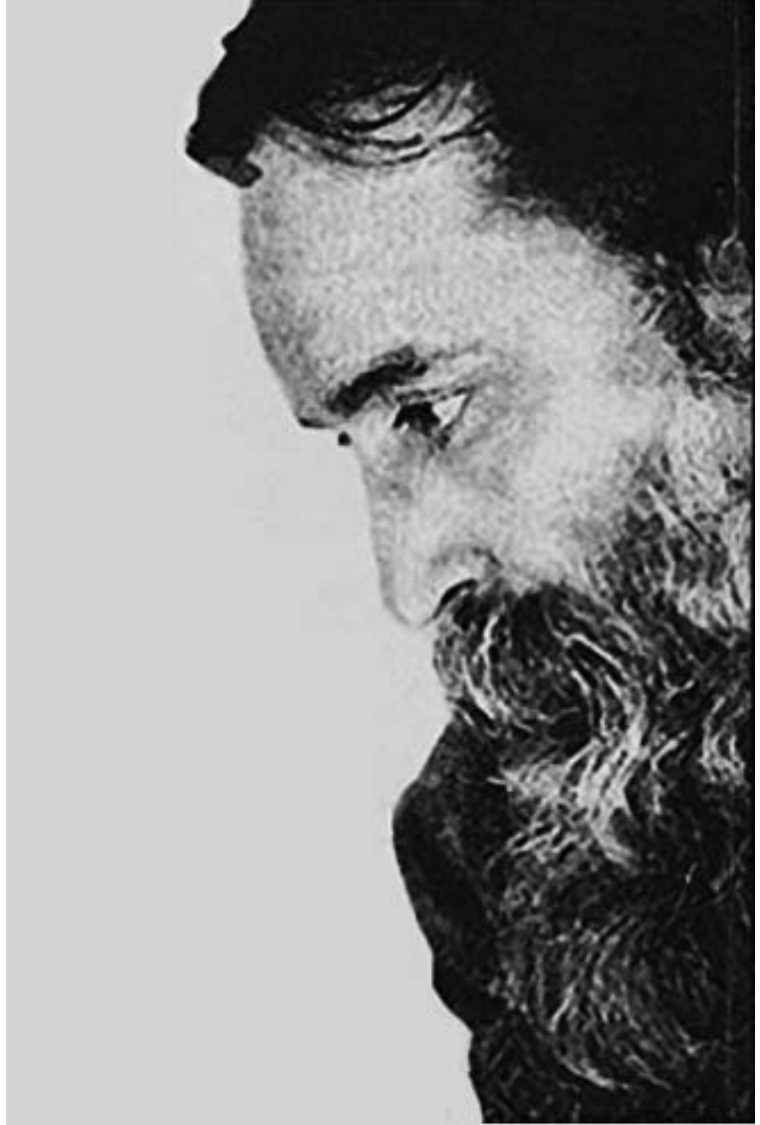
इस सारी प्रक्रिया में जो दुःख सहता रहा और फिर भी साथ चलता रहा, वह उनका परिवार था। अपनी शादी के तुरंत बाद भी देवेन्द्र सत्यार्थी दो साल के लिए कहीं चले गए थे। वे कहीं किसी काम से निकले और घर आये ही नहीं। बेचारी पत्नी परेशान। वे लौटे तो धीरे-धीरे लोकमाता शान्ति सत्यार्थी उन्हें कुछ-कुछ बूझने लगीं। अगली बार जैसे ही वे जाने को तैयार दिखे, उन्होंने भी साथ चलने की जिद ठान ली। किस्सा है कि देवेन्द्र सत्यार्थी ने पहले तो ना-नुकर किया लेकिन, पत्नी ने कहा, 'जहां आप वहां मैं। आप राजा तो मैं रानी, आप भिखारी तो मैं भिखारन।' सत्यार्थी ने हंसकर कहा, 'यह राजा-रानी वाली बात तो कुछ जंचती नहीं। हां दूसरी वाली चल जाएगी।'

इस सारी प्रक्रिया में जो दुःख सहता रहा और फिर भी साथ चलता रहा, वह उनका परिवार था। अपनी शादी के तुरंत बाद भी देवेन्द्र सत्यार्थी दो साल के लिए कहीं चले गए थे।

तो पति-पत्नी की यायावरी का यह सिलसिला बरसों तक चला। यह चलता रहता अगर इन दोनों की बड़ी बेटी कविता का जन्म न हुआ होता। कविता के जन्म के बाद पत्नी ने घर

गृहस्थी की बागडोर संभाल ली। कुछ दिनों तक सत्यार्थी भी प्रकाशन विभाग की पत्रिका आजकल के संपादक की कुर्सी पर जमे रहे। बापू विशेषांक और लोकरंग विशेषांक जैसे अभूतपूर्व अंक निकालकर उन्होंने इस पत्रिका को एक आदर्श ऊंचाई दी।

पर उनका रमता जोगी सा मन कब तक एक ठौर बंधता।



बसी-बसाई गृहस्थी और नौकरी को छोड़कर जल्द ही वे फिर अपनी घुम्मकड़ी में मग्न हो गए। पत्नी ने दिन-रात सिलाई करके बेटियों को पढाया-लिखाया और उनकी शादियां कीं। पत्नी की चिट्ठियां, जिनके साथ कभी-कभी बच्चों की चिट्ठियां भी होती थीं, उन्हें वापस घर तक खींच लाती थीं। कई बार तो

बच्चों के होने की खबर भी उन्हें घर तक वापस लेकर आई। उनकी बड़ी बेटी कविता जब हुई तो सत्यार्थी बर्मा में थे और जब उसकी मौत हुई तब भी वे घर पर नहीं थे। गीतों के लिए विदेह बने फिरते सत्यार्थी जी को किसी अन्य बात का दुःख रहा हो न रहा हो, इस बात का क्षोभ आजीवन रहा। वे अच्छे पति और पिता नहीं थे, यह वे जानते थे।

एक बार वे पाकिस्तान किसी मुशायरे में गए तो फिर बहुत दिन न लौटे। यहां पत्नी परेशान, पिता की याद में बच्चियां उदास। पत्नी ने तब हारकर प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू से संपर्क किया। उन्होंने एक पत्र लिखा, दूतावास को सूचित किया और नेहरू जी का यही पत्र सत्यार्थी को वापस हिंदुस्तान लेकर आया।

शांति सत्यार्थी कहती थीं कि पति को लगे इस घुमक्कड़ी रोग का पता उन्हें शादी के बाद ही चला था। कई बार वे यह भी भूल जाते थे कि पत्नी भी उनके साथ यात्रा पर हैं। उन्हें धर्मशाला में ही छोड़कर वे आगे बढ़ जाते। पर पत्नी ने कभी इसके लिए शिकायत नहीं की। सत्यार्थी को भी यह बखूबी पता था कि उनकी और उनके परिवार की जीवनधुरी पत्नी ही हैं। प्रेयसी के शीर्षक वाली एक कविता में उन्होंने कहा है : 'मेरी प्रेयसी हीर नहीं है / न ही मैं रांझा / मैं पथिक पैर में चक्कर / मेरी प्रेयसी पथ की अभ्यस्त / चल पड़ती है उधर / जिधर मैं हो लेता हूं / न हंसकर, रोककर / नयनों में प्रिय नयन पिरोकर।' सत्यार्थी सब जानते बूझते भी अगर अपनी गृहस्थी से विमुख और गीतों की खोज में तल्लीन रहे तो बस इसी कारण कि वे जानते थे कि शांति उसे संभाल लेंगी।

दुनिया के दुःख-सुख से जुड़ने के क्रम में पहले निजी सुखों-दुखों को पीछे छोड़ना पड़ता है। स्व से कहीं बहुत ऊपर उठना पड़ता है। परिवार उनके इसी निज और स्व का ही तो हिस्सा था, इसलिए इस कठिन राह पर चलते हुए देवेन्द्र सत्यार्थी ने कभी अपने निजी दुःख-सुख और परिवार को तरजीह नहीं दी।

उनसे जुड़े हुए कई किस्से हैं। एक बार जब भटकने के अपने इसी क्रम में सत्यार्थी बनारस पहुंचे तो मदन मोहन मालवीय ने उन्हें घर बुला लिया। पर वे सत्यार्थी जी की स्थिति देखकर बेहद दुखी हुए। थका क्लांत शरीर, बिवाई वाले बदरंग थके और घायल पैर। उन्होंने तुरंत उनकी मरहम पट्टी अपने हाथों से करनी चाही। सत्यार्थी को यह मंजूर न हुआ। बहुत जिद के बाद वे उनके बेटे से पट्टी करवाने को तैयार हुए।

महात्मा गांधी उन्हें लगातार कहते रहते थे कि वे उनके साथ वर्धा आकर रहें। सत्यार्थी न मानते। एक बार आमना-सामना होने पर भी उन्होंने यही पेशकश की। सत्यार्थी ने कहा। 'लेकिन मैं तो मुंबई जा रहा हूं।' गांधी जी ने तुरंत पूछा : 'वहां

कहां रुकोगे।' उन्होंने कहा, 'जहां अभी तक रुकता आया हूं।' बताते हैं कि गांधी जी ने तत्काल हिदायत दी कि मुंबई में कन्हैयालाल मुंशी के घर में उनके लिए जो कमरा रखा हुआ है वह सत्यार्थी को सौंप दिया जाए और उनसे एक बार भी यह न पूछा जाये कि वे कब तक रहेंगे, या कब जायेंगे। रवीन्द्रनाथ टैगोर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, रेनू और बच्चन सहित तमाम हस्तियां भी उनके लेखन, समर्पण और उनकी निष्ठा के लिए उन्हें बहुत मान देते थे।

सत्यार्थी चाहते तो किसी भी विश्वविद्यालय से सहयोग लेकर अपना काम सुचारू रूप से कर सकते थे। पर इसकी उनको कभी चाह नहीं हुई। उनका कहना था कि रस और आनंद उनके जीवन की पहली शर्त है और नाक में नकेल पड़ जाए, यह उन्हें कभी पसंद नहीं रहा।

उनसे जुड़ा एक और दिलचस्प किस्सा है। यह आजादी के पूर्व की बात है। एक बार सत्यार्थी जवाहरलाल नेहरू से मिलने उनके घर गए थे। इंदिरा गांधी खुद उनके लिए चाय बना कर लाईं। नेहरू ने उन्हें कहा कि वे भी बैठें और बातचीत में शरीक हों। इंदिरा ने यह कहते हुए बैठने से साफ मना कर दिया कि वे अपने गुरु के समकक्ष कैसे बैठ सकती हैं।

बात यह थी कि इंदिरा की शिक्षा शान्तिनिकेतन में हुई थी और सत्यार्थी का उनके घर के बाद जो दूसरा पता ठिकाना वह शान्तिनिकेतन ही था। एक बार हजारी प्रसाद द्विवेदी कुछ अस्वस्थ थे। उन्होंने सत्यार्थी से अपनी कक्षा लेने को कहा। वे बोले, 'भला मैं आपकी जगह कैसे पढ़ा सकता हूं। मुझमें इतनी योग्यता नहीं।' जवाब आया, 'तुम्हें पढ़ाने को कौन कह रहा है? तुम जो इतने दिन और इतनी जगहें घूमते रहे हो, जाओ अपने इन अनुभवों को छात्रों से बांटो।' इंदिरा भी उस दिन उन्हीं छात्रों में शामिल थीं जिनकी सत्यार्थी ने कक्षा ली थी।

हजारी प्रसाद द्विवेदी को यूं भी सत्यार्थी से बहुत स्नेह था। लोकगीतों के प्रति उनकी बेचैनी के लिए वे उनकी बहुत इज्जत करते थे। द्विवेदी ने सत्यार्थी जी की प्रशंसा में लोकगीत शैली में ही एक लंबी कविता लिखी थी जिसका मजमून यह था कि जैसे सूर्य और चन्द्रमा आकाश में अकेले होते हैं वैसे ही सत्यार्थी भी अपने एकाकी पथ में अलग और अकेले हैं।

देवेन्द्र सत्यार्थी की 50 से भी ज्यादा किताबें प्रकाशित हुईं। हालांकि कहानी, कविता, लेख, उपन्यास, आत्मकथा सहित सभी विधाओं में लिखने वाले इस लेखक पर उसका लोकगीत प्रेम हमेशा हावी रहा। 1977 में भारत सरकार ने देवेन्द्र सत्यार्थी को पद्मश्री से सम्मानित किया। 12 फरवरी 2003 को 94 वर्ष की आयु में उनका देहांत हो गया।

---

## न हम प्रश्न पूछते हैं, न तुम्हें पूछने देंगे

■ अशोक वाजपेयी

---

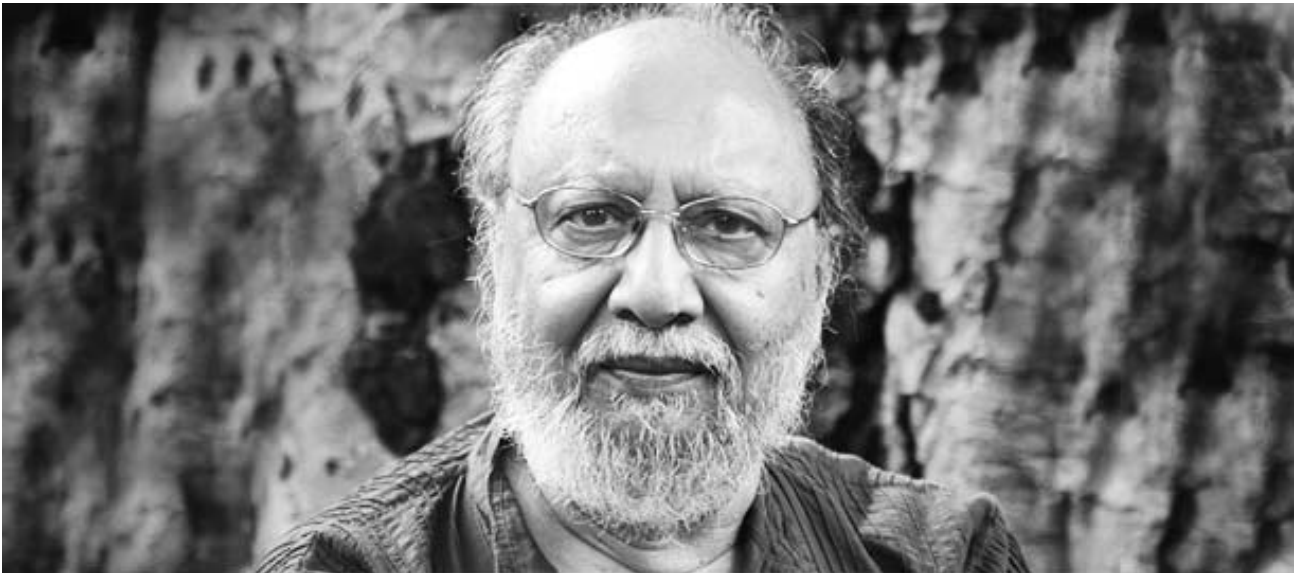


*धार्मिक और राजनैतिक भक्ति के विस्तार के इस समय में प्रश्न पूछने वालों को संदिग्ध बताने की पूरी कोशिश की जाती है*

इन दिनों दो तरह की भक्तियां बहुत जोर पर हैं—धार्मिक और राजनैतिक। उनमें विस्तार भी हुआ है और वे बहुत मुखर-सक्रिय हैं। दिलचस्प पक्ष यह है कि दोनों क्रिस्म की भक्तियों में भक्तों की संख्या में पढ़े-लिखे बहुत हैं और वही ऐसा कुछ कहते-करते हैं जिससे जाहिर होता है कि वे अंधभक्त हैं। जो भी हो, इस भक्ति में प्रश्नवाचकता लगभग शून्य है। आज भक्त वही हैं जो प्रश्न नहीं पूछते बल्कि दूसरों की प्रश्नवाचकता पर रोक लगाते हुए उस पर प्रहार करते, उसे संदिग्ध बताने की पूरी कोशिश करते हैं। 'न हम प्रश्न पूछते हैं, न

तुम्हें प्रश्न पूछने देंगे।'

इस नयी भक्ति का उस भक्ति से कोई संबंध नहीं है जो हमारे मध्यकाल में विकसित हुई थी और जिसके कारण सारे देश में महान काव्य जन्मा और फैला-बढ़ा। भक्ति आंदोलन ने धर्मों की कट्टरता, संकीर्णता, सांप्रदायिकता, अनुष्ठानबद्धता आदि को खारिज किया था और एक नये क्रिस्म के जनतांत्रिक अध्यात्म को जन्म दिया था। कविता ने उससे पहले और उसके बाद भी कभी ऐसी क्रांतिकारी भूमिका हमारी सभ्यता में नहीं निभायी। इस भक्ति में प्रश्नवाचकता की जगह और बड़ी भूमिका थी।



राज्य, सत्ता, समाज, धर्म, अध्यात्म आदि सभी उसके घेरे में आते थे। कविता ही उसका केंद्र थी, कुछ और नहीं। वह केंद्र लचीला था, विनम्र और प्रश्नवाची था, उसमें सब जातियों की शिरकत थी, कोई विशेषाधिकार न थे और वह राजनैतिक सत्ताओं से अप्रभावित था। कविता को ऐसी केंद्रीयता शायद उससे पहले या बाद में कभी नहीं मिली। साहित्य में ऐसी जनतांत्रिकता भी पहले या बाद में कभी नहीं रही। हमारा यह दुर्भाग्य है कि हमारी सभ्यता और समाज ने काफ़ी हद तक भक्ति की इस जनतांत्रिक विरासत को गंवा दिया। हम कल्पना और सृजन के एक गणराज्य से निकले हुए भगोड़े नागरिक हैं जो इस उत्तराधिकार को भूल गये हैं कि आस्था और प्रश्नवाचकता एक साथ हो सकते हैं।

भक्ति पर बार-बार ध्यान जाता रहता है। मेरा पोता ऋषु इन दिनों आईआईटी गांधीनगर से छुट्टियों में घर आया हुआ है। वह अवसर पाकर कई प्रश्न पूछता रहता है। अभी एक दिन उसने पूछा कि अगर मुझे अवसर मिले तो मैं किस दिवंगत व्यक्ति से मिलना चाहूंगा। मैंने फौरन कहा— तुलसीदास से। उसके कारण पूछने पर मैंने बताया कि तुलसीदास हमारे यानी हिंदी के सबसे बड़े कवि हैं और हिंदी का सारा वैभव, सौंदर्य, संभावना, सूक्ष्मता उनकी कविता में चरितार्थ हुई है। उनके चरित्रों की कई उक्तियों को उनकी दृष्टि मानकर उनकी दुर्व्याख्या भी खूब हुई है। मैं उनसे पूछना चाहूंगा कि बावजूद इसके कि उन्होंने गरीबी, विपन्नता, अकाल आदि पर महान कविता लिखी हैं, इन्हीं को लेकर महाकाव्य क्यों नहीं लिखा, क्यों रामचरितमानस लिखा? कुछ ऐसे अटपटे प्रश्न अन्य भक्त कवियों कबीर, सूरदास आदि से भी पूछे जा सकते हैं। इन सभी की कविता प्रश्नवाचक भक्ति उकसाती है, आंखमूंद श्रद्धा नहीं।

### असहमति का एक जीवन

अगर हमारे बीच ऐसे कई; हमारे ज्ञान, सृजन और लोकतंत्र के ऐसे हैं, जिन्होंने अपना पूरा जीवन असहमति में बिताया तो उस सूची में चिंतक आशीष नंदी का नाम शायद सबसे ऊपर होगा। इस सदा सक्रिय असहमति ने उन्हें कई बार विवादग्रस्त किया। वे गलतफहमियों का भी शिकार हुए। लेकिन यही उनकी बौद्धिक और नैतिक जिजीविषा है। आशीष दा 81 वर्ष के हो गए हैं और इस अवसर पर रामिन जहां बेगलू और अनन्या वाजपेयी ने एक पुस्तक संपादित की है।

जिसे आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी ने प्रकाशित किया है। पुस्तक का नाम है—आशीष नंदी : ए लाइफ इन डिसेंट।

हमारे समय में असहमति की वैचारिक सक्रियता, निरंतरता और वितान शायद सबसे अधिक आशीष नंदी के चिंतन में है। उसमें पश्चिमी ज्ञान-मीमांसा का गहरा और अथक प्रश्नांकन है। वे उसमें सुदीक्षित हैं और जब-तब उसकी विधियों और अवधारणाओं का सुघर और कल्पनाशील उपयोग भी करते हैं, पर वे उससे बंधे नहीं हैं और ज्ञान की अन्य मीमांसाओं के हाशिये पर ढकेले जाने का प्रतिरोध करते हैं। इस वजह से उन्हें अकसर भारत में गलत समझा जाता है और उनकी प्रगतिशीलता संदिग्ध ठहरायी जाती है। लेकिन पश्चिम में उनकी इस निर्भीकता के कारण ही उन्हें बौद्धिक हलकों में सम्मान मिलता है और उनकी बात ध्यान से सुनी-गुनी जाती है। अनन्या वाजपेयी कहती हैं कि आशीष दा ने बौद्धिक प्रतिरोध का एक व्याकरण गढ़ा है जो नागरिक मित्रता का एक प्रकार भी है। आशीष दा ने स्वयं कहा है कि वे संसार जीतने वालों के लिए काम नहीं करते— उनका सरोकार पराजित हुई ज्ञान-व्यवस्थाओं और आत्माभिव्यक्ति के तरीकों से रहा है। आशीष दा की बुनियादी जिज्ञासा यही रही है कि वे जानें कि भारत क्या है, भारतीय संस्कृति और सभ्यता क्या है। उन्हें लगता है कि भारतीय सभ्यता में आत्म अबाध है। उसकी परिभाषा नहीं की जा सकती। कठोर-कट्टर द्वैतों की अनुपस्थिति है और विरुद्धों का सहअस्तित्व है। यही उसे आधुनिकता की संस्कृतियों से अलग करते हैं।

आशीष नंदी को भारत का अनोखा गाथाकार भी कहा गया है। लेकिन वे अपनी गाथा कहने के लिए ज्ञान की प्रचलित या रूढ़ परिपाटियों का प्रयोग नहीं करते। उन्होंने सीधे साहित्य या कलाओं पर भले कम लिखा है, उनके असली स्रोत उनकी विकल्पता, रचनात्मकता और जिजीविषा में ही हैं। गांधी आशीष दा के विचार में एक तरह की केंद्रीयता रखते हैं। पर उनका गांधी आश्रम का गांधी नहीं है और न ही उनके अध्यात्म से उन्हें कुछ लेना-देना है। उनकी समझ यह है कि जिन्होंने गांधी को मारा और जो चाहते हैं कि गांधी मृत ही रहें दोनों की राजनैतिक संस्कृति एक है। जो अतिपौरुष गुजरात से निकला और जिसकी '56 इंच की छाती' देश पर छा गयी, उसका सच्चा प्रतिरोध आशीष को गांधी में नज़र आता है।

---

## हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया : जो मानते थे कि खुदा से इश्क तभी हो सकता है जब उसके बंदों से भी हो

हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया अक्सर कहा करते थे -

“मदीना की गलियों में मुझे खुदा शरीबों के बीच ही मिला है।”

### ■ अनुराग भारद्वाज

---

अपने वजूद में आने के 100 सालों में ही इस्लाम मक्का से हिंदुस्तान की दहलीज़ तक आ गया था। नेहरु अपनी किताब ‘ग्लिम्प्सेस ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री’ में लिखते हैं—‘इस्लाम एक नयी ताक़त थी, नया विचार था जिसने अरबवासियों में, जो एक तरह से सुप्तवास्था में थे, एक नया विश्वास और जोश भर दिया।’ शायद यही कारण है कि इस्लाम बाक़ी मजहबों के मुकाबले दुनिया में सबसे तेज़ी से फैला। इस्लाम में से ही सूफ़ीवाद की धारा फूटकर निकली जो वेदांत के रहस्यवाद से काफी मेल खाती थी। इसका भी आधार ‘रहस्य’ यानी ‘तसव्वुफ़’ था।

‘सूफ़ी’ लफ़्ज़ की उत्पत्ति भी बड़ी रहस्यमयी है। अपनी किताब ‘कंटेम्पेरी वर्ल्ड ऑफ़ सूफ़ीज़्म’ में सईद मनल शाह अलकादरी लिखते हैं कि सूफ़ी लफ़्ज़ अरबी और फ़ारसी के कुल आठ लफ़्ज़ों में से किसी एक से बना है :

1. ‘सफ़ा’—मतलब दिल की सफ़ाई।
2. ‘सफ़ा अव्वल’—पहली पंक्ति में बैठने वाले भक्त।
3. ‘बनू सफ़ा’—अरब की एक घुमंतू जाति ‘बेडॉइन’।
4. ‘अहल-ए-सफ़ा’—पैगंबर के समय जो लोग मस्जिदों में भक्ति कार्य करते थे।
5. ‘सुफ़ना’—एक विशेष प्रकार की सब्जी
6. ‘सफ़ावत-अल-किफ़ा’—गर्दन तक आती हुई जुल्फों की लट।
7. ‘सोफ़िया’—यूनानी लफ़्ज़ जिससे

‘फलसफ़ा’ बना और 8. ‘सुफ़’—माने ऊन। बाद में सूफ़ी-अल-रुधाबरी ने कहा—‘जो ऊन पहने और दिल साफ़ रखे वह सूफ़ी है।’

सूफ़ीवाद की बुनियाद इश्क़ है। इसलिए इस्लाम तार्किक मजहब है और सूफ़ीवाद रूहानी। सूफ़ीवाद के अनुयाइयों को सूफ़ी संत या औलिया कहा जाता है। औलिया शब्द का अर्थ है ‘अल्लाह वाला’ यानी ‘अल्लाह का दोस्त’। सूफ़ीवाद की कई धाराएं हुई हैं जिन्हें ‘सिलसिलाह’ भी कहते हैं। जैसे चिशितया, सुहावर्दी, नक्शबंदिया, कादरिया। इनमें से हिंदुस्तान में चिशितया और सुहावर्दी काफी मशहूर हुए।

हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया चिशितया सिलसिलाह के सूफ़ी हुए जिन्हें ‘महबूब-ए-इलाही’ भी कहा गया। बदायूं में पैदा हुए और बाबा फरीद की सरपरस्ती में अजोधन (पाकिस्तान) रहे और बाद में दिल्ली चले आये। औलिया ने अपने 60 साल के जीवन में दिल्ली की रियासत को तीन सल्तनतों के हाथों में देखा—गुलाम, खिलजी और तुगलक वंश। औलिया कभी किसी के दरबार में नहीं गए पर उनका प्रभाव किसी सुल्तान से कम नहीं था।

हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया बड़े ही खुले दिल के विचारक और हर मजहब को एक ही नज़र से देखने वाले थे। उनकी इस बात से उस दौर के

‘मुल्ला’ खासे नाराज़ थे। पर उनके ख़यालात लोगों तक पहुंच रहे थे, उनके दिलों में जगह बना रहे थे। दरअसल, सूफ़ीवाद का सिर्फ़ एक ही सिद्धांत है—इंसान चाहे किसी भी मज़हब, जाति या रंग का हो, सभी की सेवा करना। सूफ़ी एक बात मानते हैं—‘अल खल्क-औ-अयालुल्लाह।’ माने सब खुदा के बंदे हैं और खुदा से इश्क़ तभी है जब उसके अयाल यानी बंदों से है।

हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया कहते थे—‘इबादत से ज्यादा सवाब (पुण्य) ज़रूरतमंदों की मदद से मिलता है’। इसे उन्होंने कुछ इस तरह से समझाया है; ‘खुदा की इबादत के दो तरीके हैं—‘लाज़िमी’ और ‘मुताद्दी’। पहले में खुदा का सजदा, हज और रोज़े रखना। इसका सवाब सिर्फ़ उसको है जो ये करता है। ‘मुताद्दी’ है दूसरों की मदद, लोगों से मोहब्बत, ख़ुलूस और ईमानदारी से काम करने वाला। मुताद्दी के सवाब कभी ख़त्म नहीं होते।

‘फ़वैद अल फ़ुआद’ में उन्होंने बयान किया है कि पैगंबर इब्राहिम ने एक बार किसी काफ़िर के साथ खाना बांटने में परहेज़ किया तब अल्लाह की आवाज़ आई—‘मुझे इसे ज़िंदगी देने में गुरेज़ नहीं था, तुम्हें खाना बांटने में क्यूं है।’

वे अक्सर बग़दाद के शेख़ जुनैद का बयान लोगों के बीच रखते थे, जिन्होंने कहा था—‘मदीना की गलियों में मुझे खुदा ग़रीबों के बीच ही मिला है।’

एक बार किसी ने उनसे पुछा कि खुदा तक जाने का रास्ता कौन सा है। तो उन्होंने शेख़ अबू सैद अबुल-खैर की बात दोहरा दी—‘जितने रेशों से ये जिस्म बना है, खुदा तक जाने के उतने रास्ते हैं। पर सबसे छोटा रास्ता वो है जो इंसान के दिलों को खुशी देता है। मैंने अब तक यही किया है और मेरी सलाह है तुम भी ऐसा करो।’

एक बड़ा दिलचस्प किस्सा है जो उनके ख़यालात की गवाही देता है; एक बार जब वो अपनी खानकाह (निवास स्थान) की छत पर अमीर ख़ुसरो के साथ टहल रहे थे। उसी समय कुछ नागा साधू वहां से गाते-बजाते हुए यमुना नदी की तरफ जा रहे थे। उन्हें देखकर हज़रत औलिया इतने अभिभूत हुए कि तुरंत ही एक मिसरा (शेर की एक पंक्ति) उनके मुँह से निकला :

‘हर कौम रास्त राहे, दीने-व क़िबला गाहे

(हर कौम का एक रास्ता है, उसका एक दीन और एक क़िबला है।)

अमीर ख़ुसरो ने उस पर मिसरा लगाकर शेर को कुछ इस तरह पूरा किया :

मन क़िबला रास्त करदम बर सिम्त-ए-कजकुलाहे  
(मैं अपना क़िबला तिरछी टोपीवाले की तरफ सीधा करता हूँ।)

समकालीन इतिहासकार बरनी ने लिखा है कि हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया का समाज पर इतना असर था कि उनके कहने से दिल्ली में अपराध कम हो गए थे। उन्होंने हमेशा माना कि क़यामत के दिन यह हिसाब ज़रूर होगा कि तुमने अपनी रोज़ी कैसे कमाई। अगर ग़लत रास्ते का इख़्तियार किया है, तो खुदा सज़ा ज़रूर देगा।

हज़रत निज़ामुद्दीन को अमीर ख़ुसरो से बेहद लगाव था और उन दोनों का मिलना भी एक कमाल का किस्सा है। यूं हुआ कि जब ख़ुसरो, हज़रत औलिया की खानकाह पर आये तो अंदर आने से पहले यह पंक्तियां लिखकर हज़रत औलिया को भिजवाई :

‘तू आँ शाहे के बर एवान-ए-क़सरत / कबूतर गर नशीनद बाज़ गरदद / ग़रीब-ए-मुस्तमंदे-बर दर आमद / बेयायद अंदरुन या बाज़ गरदद।’

(तू वो बादशाह है कि तेरे महल की छत पर कबूतर बैठे तो बाज़ बन जाए। मैं ग़रीब और ज़रूरतमंद तेरे दर पर आया हूँ। अंदर आऊँ या वापिस चला जाऊँ।)

इस पर हज़रत औलिया ने फौरन यह जवाब लिखकर भेजा :

‘बेयायद अंदरुन मर्द-ए-हकीकत / के बा मा यक नफस हमराज़ गरदद — अगर अबल: बवद आन मर्द-ए-नादां — अज़ां राहे की आमद बाज़ गरदद।’

(वो मरदे हकीकत अंदर आ जाए ताकि हम नफ़स और हमराज़ हो जाए। अगर वो मरदे नादां गंवार है तो जिस रास्ते से आया है उसी से वापिस चला जाए।)

इसके बाद दोनों का मिलन इतिहास में मिसाल बन गया। उन्होंने ने एक बार कहा भी था कि ‘मैं कभी-कभी सबसे उकता जाता हूँ, यहां तक कि खुद से भी। पर इस तुर्क (अमीर ख़ुसरो) से कभी नहीं।’ ख़ुसरो को उन्होंने ‘तुर्कुल्लाह’ की पदवी से नवाज़ा था।

हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया गयासपुर में बसने से पहले कुछ समय के लिए ख़ुसरो के नाना इमादअल-मुल्क रावत की हवेली में रहे और एक समय पर वे पटियाली में भी इसलिए बसना चाहते थे कि वहां ख़ुसरो की हवेली भी थी। यहीं से ख़ुसरो का काव्यात्मक जीवन शुरू हुआ। वे कुछ भी लिखते पहले हज़रत औलिया से दुरुस्त करवाते। ख़ुसरो ने अपने तीन संकलन; ‘गुररत

अल-कमाल', 'वसत अल-हयात' और 'निहायत अल-कमाल' हजरत औलिया की नज़र किये और इन सबमें उन्होंने खुदा और पैगंबर के बाद हजरत औलिया की शान में कसीदे पढे हैं। खुसरो ने अपनी किताब 'लैला मजनू' में उनकी शान में लिखा है— '...औलिया अपने खानकाह में किसी राजा से कम हैसियत नहीं रखते। वे इस ज़मीं पर मोहब्बत का आस्मां हैं। एक ऐसा सुल्तान जिसके सर पर न ताज है, न कोई राज पर सुलतान भी जिसके पैरों की धूल अपने जर्बी (माथे) पर लगाते हैं। खुदा करे कि उन्हें जन्नत में सबसे ऊंची जगह मिले और खुसरो उनका नौकर बना रहे।

एक बार हजरत औलिया ने अमीर खुसरो के कलाम सुनकर उनसे कुछ मांगने को कहा तो खुसरो ने अपने कलाम में शक़र जैसी मिठास की चाह रखी। हजरत औलिया ने उन्हें कमरे में से शक़र लाने को कहा और कुछ दाने खुद (खुसरो) पर डालने को और कुछ खाने को कहा। इसके बाद ऐसा माना जाता है कि खुसरो की शायरी एक नयी मिठास के साथ दुनिया के सामने आई। भारतीय शास्त्रीय संगीत में खयाल गायन खुसरो की ही देन माना जाता है लेकिन खुसरो इसे हजरत औलिया की देन मानते थे। यह भी इत्तेफाक है कि खुसरो की मज़ार पर 'तूती-ए-मिकल (मिश्री की डली)' लिखा गया है।

खुसरो के कितने ही कलाम हैं जिनमे हजरत औलिया

का जिक्र होता है :

1. 'खुसरो निजाम के बल बल जाये हों मोहे सुहागन की नी रे मोसेयके।'
2. 'आज रंग हैं मोरे ख्वाजा के घर आज रंग है।'
3. 'मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल कैसे घर दीन्ही बकस मोरी लाल निजामुद्दीन औलिया को कोई समझाए ज्यों ज्यों मनाऊं वो तो रूसो ही जाए।'

तीन, अप्रैल सन 1325 को हजरत निजामुद्दीन औलिया का इंतकाल हो गया। उस वक्त खुसरो बंगाल में थे। वे बदहवास से दिल्ली पहुंचे और शेख की मज़ार से लिपटकर रोये और कहा— 'मैं इस राजा के मरने का ग़म करूं या अब खुद का दुनिया से जाने का ग़म मनाऊं क्योंकि अब मैं भी जिंदा नहीं रह पाऊंगा। खुसरो का शेर उनके औलिया से बिछड़ने का ग़म कुछ यूं बयान करता है :

'गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस चल खुसरो घर आपने सांझ भई चहुं देस'

हजरत औलिया के जाने के छह महीने बाद ही खुसरो ने भी अपने प्राण छोड़ दिए। उन्हें हजरत औलिया की मज़ार के पास ही दफन कर दिया गया, साथ ही दफन कर दिए वे खत भी जो उन्होंने एक-दूसरे के लिए लिखे थे।



---

## हिंदुस्तानियत और पाकिस्तानियत के इस शोर में हम कहीं इंसानियत को न भूल जाएं

■ अव्यक्त

---

*फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की पुत्री मोनीज़ा हाशमी के साथ हमने जो किया वह भारतीय तो है ही आज की दुनिया का सबसे बड़ा संकट भी है*

तैत्तिरीय उपनिषद् में जब गुरु अपने शिष्य से कहता है – ‘अतिथिदेवो भव’ तो उससे पहले वह माता, पिता और आचार्य को देवों की श्रेणी में रख चुका होता है। इसी क्रम में वह अतिथि के भी देवतुल्य होने की शिक्षा देता है। उपनिषदों से पहले वेदों में भी हमारे पूर्वजों ने यह गान किया था—‘गृहे वसतु नो अतिथिः’ (अथर्ववेद), यानी हमारे घर में अतिथि निवास करे। आज से लगभग बारह सौ साल पहले रचा गया ग्रंथ ‘हितोपदेश’ कहता है—‘पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः’। यानी जितनी क्षमता हो, वह सब लगाकर अपने अतिथि की सेवा-सत्कार करो।

दुनिया के इस हिस्से में किसी समय इतना उदार और उदात्त चिंतन हुआ, यह सोचकर आज हम सबको बहुत अच्छा लगता है। लेकिन आज की वास्तविकता से तुलना करने पर मन उदास हो जाता है। आज शहरी मध्यवर्ग के गृहस्थों से लेकर नौकरशाहों और राजनेताओं तक के पास साधन-संपन्नता भले ही बढ़ गई हो, और अतिथियों के प्रति खर्च और दिखावे का शिष्टाचार भले ही दिखाई देता हो, लेकिन उस भावनात्मक उदारता का मानो लोप ही हो गया है।

ग्रामीण भारत के सामान्य-जनों में साधनहीनता के बावजूद उस आतिथ्य-भाव की झलक आज भी देखने को मिल जाती है। अतिथि कैसे भी हों, वे आज भी दिखावापूर्ण स्वागत-सत्कार से अधिक महत्व प्रेम-भाव को देते हैं। इसी प्रेम-भाव की बात सूरदास ने की थी जब कृष्ण के मामले में उन्होंने गाया था—‘दुर्योधन के मेवा त्याग्यो, साग विदुर घर खाई, सबसे ऊंची प्रेम सगाई।’ और संत कबीर ने कहा था—‘साधु

भूखा भाव का, धन का भूखा नाहि।’

अतिथियों के मामले में जो बात गृहस्थों पर लागू होती है, वही बात राष्ट्रों के मामले में भी लागू होती है। लेकिन बदले दौर में आतिथ्य को जबसे कूटनीति से जोड़ दिया गया, तबसे इसमें वह बात नहीं रही। पहले अतिथियों के राजकीय सत्कार में जिस तरह की भावना रहती थी, वह अब प्रोटोकॉल की भेंट चढ़कर केवल शिष्टाचार भर की बात रह जाती है। हाल में भारत का राष्ट्रपति भवन तक अपने ही देश के कलाकारों के प्रति इसे लेकर चर्चा में रह चुका है। लेकिन यहां हमारा उद्देश्य वैश्विक स्तर पर एक देश से दूसरे देशों में लोगों की आवाजाही पर चिंतन करना है।

आप्रवासियों से लेकर शरणार्थियों तक की समस्याओं से जूझ रही आज की हमारी दुनिया का संकट वास्तव में आतिथ्य का संकट ही है। वैश्विकता के चोगे में संकीर्णता हमारे समय की खास पहचान है। आने वाली पीढ़ियां इसे हमारे समय के सबसे बड़े अंतर्विरोध के रूप में देखेंगी।

आज फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की सुपुत्री और स्वनामधन्य शख्सियत मोनीज़ा हाशमी को लेकर जब बात भारत-पाकिस्तान की चली है, तो आतिथ्य-सत्कार के मामले में विनोबा की पूर्वी पाकिस्तान में हुई पदयात्रा उल्लेखनीय है। अगस्त 1962 में विनोबा की पदयात्रा असम में चल रही थी और उनका अगला घोषित पड़ाव पश्चिम बंगाल था। लेकिन विनोबा ने कहा कि यदि पाकिस्तान सरकार इजाजत दे, तो वे पूर्वी पाकिस्तान होते हुए ही पश्चिम बंगाल में प्रवेश करना चाहेंगे। पाकिस्तान में उस समय अयूब खान की



सैनिक सरकार थी, लेकिन उसने विनोबा को उस पदयात्रा की अनुमति दे दी।

5 सितंबर, 1962 को जब विनोबा सोनारहाट बॉर्डर पर पहुंचे तो सांकेतिक रूप से एक रस्सी की गांठ खोलकर डिप्टी-कमिश्नर याक़ूब अली खान ने पाकिस्तान में उनका स्वागत किया। हृदय की गांठ खोलने वाली इस पदयात्रा को विनोबा ने प्रेमयात्रा का नाम दिया था। 16 दिन की पाकिस्तान पदयात्रा में विनोबा को 175 बीघा जमीन दान में मिली, जो वहीं हाथोंहाथ हिंदू और मुसलमान बेजमीनों में बांट दी गई। 11 सितंबर, 1962 को विनोबा के सड़सठवें जन्मदिन पर पूर्वी पाकिस्तान के गवर्नर ने उन्हें तार द्वारा बधाई का संदेश भेजा। विनोबा की सभाओं में टैगोर के लिखे गीत-भजन सम्मिलित स्वर में गाए गए।

पाकिस्तान में विनोबा से जब किसी ने पूछा कि उन्हें वहां कैसा लग रहा है, तो उन्होंने कहा था—‘कुछ भी अलग नहीं दीख रहा है। वही एक ही हवा, वही एक ही जमीन। एक ही मनुष्य, एक ही हृदय—कुछ भी तो अलग नहीं दीख रहा है। भारत के छोटे बच्चे और स्त्री-पुरुषों को देखकर जैसे मेरा हृदय प्रेम-प्रीति से भर जाता था, वैसे ही यहां भी आप लोगों को देखकर मेरा हृदय प्रेम और प्रीति से एकदम भर आया है। मैं तो सोचता हूँ कि संपूर्ण संसार मेरा है, और मैं इस संसार का सेवक हूँ। कहीं भी जाता हूँ, ‘जय जगत’ कहता हूँ। यानी संसार एक है, और सभी एक ही हैं।’

विनोबा की सभाओं में शुरू-शुरू में लोगों ने ‘पाकिस्तान जिंदाबाद’ के नारे लगाए, लेकिन जब विनोबा ‘जय जगत’ ही बोलते रहे, तो धीरे-धीरे वहां के लोग भी ‘पाकिस्तान जिंदाबाद’ छोड़कर ‘जय जगत’ ही कहने लगे।

डॉ. राममनोहर लोहिया का एक लेख है—‘भारत-माता और धरती-माता’। हालांकि लेख किसी अन्य संदर्भ में लिखा गया था। लेकिन इसमें कही गई बातें आज की परिस्थितियों पर भी लागू होती हैं। लोहिया लिखते हैं : ‘एक जमाना था जब दुनिया के विभिन्न देशों में सैर करने के लिए प्रमाण-पत्र और प्रवेश-पत्र की जरूरत नहीं पड़ती थी। आज राष्ट्रीयता कम हो रही है या ज्यादा? एक दूसरे से भय घट रहा है या बढ़ रहा है? साथ-साथ वह सब रीति-रिवाज, रस्म, टोने-टोटके बढ़ रहे हैं, जिससे विशाल प्रेमिका पृथ्वी का निरादर होता है। न जाने किस तर्क से इस निरादर को स्वदेश-आदर में पलट दिया जाता है।’

लोहिया ‘अतिथिदेवो भव’ की माला जपने वाले भारत को भी आईना दिखाते हुए आगे कहते हैं : ‘आशा की गई थी कि शायद आज़ाद हिन्दुस्तान नागरिकता की परिभाषा और कानून के संबंध में दुनिया को कोई नई दिशा दिखाए। लेकिन उसने भी गोरों की और यूरोप-अमेरिका की नकल की। शरीर को महत्व दिया। कहां जन्मे?

कब जन्मे? अथवा कितने बरस उस भूमि पर रहे हो, जिसकी नागरिकता लेना चाहते हो? ये सब शरीर के लक्षण हैं। उनमें मन के अथवा आत्मा के कोई लक्षण नहीं। जो मनुष्य मन से किसी देश को और उसकी संस्कृति को अपना लेता है, वह वहां का नागरिक हुआ। इस सिद्धांत से बढ़कर और कौन-सा सिद्धांत हो सकता है? इसमें दिक्कतें अवश्य हैं। आज की संदेह और भय की अंतर्राष्ट्रीय हवा में उड़ने से इस सिद्धांत को कोई बली देश ही बचा सकता है।’

और आखिर में लोहिया कहते हैं : ‘मन में बहुत कूड़ा जमा हो चुका है। इसको बुहारना बड़ा कठिन प्रतीत होता है। जिनकी दृष्टि दूषित है, वे इसी लेख में हिंदुस्तानियत और मनुष्यता का अनमेल देख लेंगे, क्योंकि उनकी दृष्टि में अनमेल है। जहां हिंदुस्तानियत होनी चाहिए, वहां एक नकली-उदार, खंडित-मनुष्यता ला बिठाते हैं। और जहां मनुष्यता होनी चाहिए, वहां एक संकीर्ण, दमघोंटू हिंदुस्तानियत को आसन पर चढ़ा देते हैं। समझते हैं कि विश्व-मानव बन रहे हैं, बनते हैं खाली विश्व-यार। दुनिया भी खोते हैं और देश भी खोते हैं।’

अबसे करीब 13-14 वर्ष पहले इन पंक्तियों के लेखक ने भारत-पाकिस्तान के बीच मैत्री चाहने वाले लोगों के एक मंच ‘पाकिस्तान-इंडिया पीपुल्स फोरम फॉर पीस एंड डेमोक्रेसी’ के साथ काम किया था। फरवरी 2005 में नई दिल्ली में इसका एक संयुक्त अधिवेशन हुआ था। इसमें 300 से अधिक पाकिस्तानी प्रतिनिधि-नागरिकों ने भाग लिया था। इनमें से आधे से अधिक तो युवा ही थे। पाकिस्तान के अलग-अलग हिस्सों से आए ये प्रतिनिधि जब कार्यक्रम के सभा-स्थल ‘कॉन्स्टीट्यूशन क्लब’ पहुंचे, तो दोनों पक्षों की ओर से समवेत स्वर में लंबे समय तक एक नारा लगाया गया। नारा था—‘जीवे जीवे हिंदुस्तान, जीवे जीवे पाकिस्तान।’

जब दोनों देशों के इन नागरिकों के बीच बातचीत का सिलसिला शुरू हुआ, तो दोनों ही पक्षों की कई भ्रामक धारणाएं टूटों। वे धारणाएं जो दोनों ही देशों की सरकारें और ‘राष्ट्रवादी’ मीडिया लोगों के दिमाग में बिठाते रहते हैं। इसलिए राष्ट्रों के बीच टकरावों को समाप्त करने का सबसे अच्छा तरीका लोगों के बीच निर्बाध आपसी संपर्क और संवाद को अधिक से अधिक बढ़ाना ही है। और इसके लिए दोनों ही देशों के लोगों को अपने-अपने हुक्मरानों पर लोकतांत्रिक दबाव बनाना होगा कि वे दोनों ही मुल्कों के लोगों के बीच आपसी संपर्क को बढ़ाएं न कि कम हो जाने दें। लोगों के दिलों में शक और नफरत की जगह प्रेम की अलख जगाएं। बात फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की चली, तो खुद फ़ैज़ के ही शब्दों में,

‘आइए हाथ उठाएं हम भी,  
हम जिन्हें रस्म-ए-दुआ याद नहीं,  
हम जिन्हें सोज़-ए-मुहब्बत के सिवा,  
कोई बुत, कोई खुदा याद नहीं।’

---

बहादुरशाह ज़फ़र :

आजादी के 60 साल बाद भी

दो गज़ ज़मीन न मिली कु-ए-यार में

बहादुरशाह ज़फ़र हमारे उस स्वतंत्रता संग्राम के नायक हैं जिसमें हम हार भले ही गए थे पर हिंदुओं व मुसलमानों ने उसे एकजुट होकर लड़ा था और अपनी एकता की शक्ति प्रमाणित कर दी थी।

### ■ कृष्ण प्रताप सिंह

1857 में दस मई को आजादी के जुनून से भरे हुए देसी सैनिक मेरठ से बगावत का बिगुल बजाते हुए ग्यारह मई को दिल्ली पहुंचे तो भारत के 17वें और अंतिम मुगल बादशाह मिर्जा अबू ज़फ़र सिराजुद्दीन मोहम्मद बहादुर शाह ज़फ़र में (जिन्हें आमतौर पर बहादुरशाह ज़फ़र के नाम से जाना जाता है) विश्वास जताकर न सिर्फ उन्हें अपना नेता चुना बल्कि उनकी फिर से ताजपोशी की।

तब तक अंग्रेजों के हाथों अपनी हुकूमत गवांकर लाचार ज़फ़र ने, चूंकि तब तक शातिर अंग्रेजों ने उनकी सत्ता को लाल किले तक ही सीमित कर डाला था, इन सैनिकों से पूछा कि उनके पास खजाना कहां है जो वे उन्हें तनख्वाहें देंगे, तो सैनिकों ने जैसे वे पहले से ही इस सवाल का जवाब सोचकर आये हों, वचन दिया था कि वे अंग्रेजों द्वारा लूटा गया उनका सारा खजाना फिर से लाकर उनके कदमों में डाल देंगे।

24 अक्टूबर, 1775 को जन्में 82 साल के ज़फ़र की भुजायें भी, कहते हैं कि तब फड़कने लगी थीं। तब उन्होंने खुशी-खुशी बागी सैनिकों का नेतृत्व स्वीकार कर लिया था और कर लिया तो कैसे भी दिन आये, पीछे मुड़कर



नहीं देखा। उस दुर्दिन में भी नहीं, जब बागियों का सारा कस-बल खत्म हो गया, अंग्रेजों ने छल-छद्म से जंग जीत ली, दिल्ली का पतन हो गया और ज़फ़र को हुमायूं के मकबरे में शरण लेनी पड़ी।

कहा जाता है कि ज़फ़र कम-से-कम दो मामलों में अपने पूर्ववर्ती मुगल सोलहों बादशाहों से अलग थे—एक तो वे शायरदिल थे और दूसरे उनकी दो-दो ताजपोशियां हुईं— पहली 29 सितंबर, 1837 को पिता अकबर द्वितीय के उत्तराधिकारी के रूप में और दूसरी 11 मई, 1857 को बागी सैनिकों द्वारा।

हां, इस दूसरी ताजपोशी की उन्होंने जैसी कीमत चुकाई, बहुत कम बादशाहों ने चुकाई होगी। पहले तो हुआ यह कि 'दिल्ली 'ज़फ़र' के हाथ से पल में निकल गई', फिर ऐसी बदनसीबी से सामना हुआ कि न दिल-ए-दागदार में हसरतों के बसने भर को जगह बची

और न कू-ए-यार में दफन होना नसीब हुआ। तिस पर कोढ़ में खाज यह कि देश आजाद हुआ तो उसके कर्णधारों ने खुद को इस आखिरी बादशाह की खाहिशों और यादों से भी 'आजाद' कर लिया।

अब तो उन्हें यह याद करना भी गवारा नहीं होता कि अंग्रेज सेनानायक विलियम हडसन ने हुमायूँ के ऐतिहासिक मकबरे में षडयंत्रपूर्वक ज़फ़र को गिरफ्तार किया तो अगले ही दिन दिल्ली गेट व खूनी दरवाजे के पास उनके दो बेटों मिर्जा मुगल व मिर्जा खिज़्र सुल्तान और पोते मिर्जा अबूबक्र की हत्या कर दी थी।

उनके कटे हुए सिर उसने ज़फ़र को पेश किए तो उन्होंने कहा था, 'इतिहास गवाह है, हमारी संतानें अपने बड़ों के सामने ऐसे ही सुखरू होकर सामने आती रही हैं।' उनके सौभाग्य से हडसन को उसके किए की सजा मिलने में ज्यादा वक्त नहीं लगा था और लखनऊ के बागी 11 मार्च, 1858 को बेगम कोठी में हुए एक मुकाबले में उसको मार गिराने में कामयाब रहे थे।

लेकिन यह सौभाग्य बस वहीं ठहर गया था। बाद में विजयी अंग्रेजों ने ज़फ़र के खिलाफ राजद्रोह व हत्याओं के आरोप लगाये और 27 जनवरी से 09 मार्च, 1858 तक मुकदमे के 40 दिन लंबे नाटक के बाद कहा कि गिरफ्तारी के समय दिए गए वचन के मुताबिक बर्मा निर्वासित करके उनकी जान बख्शा दी जा रही है।

अंग्रेजों की इस रहमदिली का दूसरा पहलू यह था कि ज़फ़र की बूढ़ी आंखों को उनके दिल के टुकड़ों के कटे हुए सिर देखने को मजबूर करके दी गई यह जानबख्शी जान लेने से बड़ी सजा थी। सिर्फ इसलिए नहीं कि उनका तख्त व ताज लुट गया था। इसलिए भी कि उनकी हालत वाकई 'जो किसी के काम न आ सके', उस 'एकमुश्त-ए-गुबार' जैसी कर दी गई थी।

प्रसंगवश, उनका ताज अभी भी लंदन के रॉयल कलेक्शन में रखा है और देशाभिमानि भारतीयों की गैरत को ललकारता रहता है। इसके दो कारण हैं : पहला यह कि ज़फ़र हमारे उस स्वतंत्रता संग्राम के नायक हैं जिसमें हम हार भले ही गये थे पर हिंदुओं व मुसलमानों ने उसे एकजुट होकर लड़ा था और अपनी एकता की शक्ति प्रमाणित कर दी थी। दूसरे, उनकी माता ललनबाई हिंदू थीं और पिता मुस्लिम। उनकी संतान के रूप में भी वे हमारे साझा सांस्कृतिक मूल्यों को पुष्ट करते हैं।

अक्टूबर, 1858 में निर्वासन के बाद के पस्ती और टूटन भरे दिनों में अपनी तकलीफें बयान करने का उनके पास एक ही माध्यम थी-शायरी। इतिहास गवाह है कि अंग्रेजों ने अपनी कैद में उन्हें उससे भी महरूम करने के लिए कलम, रौशनार्ई और कागज तक के लिए तरसाया।

तब ज़फ़र ने ईंटों के रोड़ों को कलम और दीवारों को कागज बनाकर अपनी गजलें लिखीं। 'दिन जिंदगी के खत्म हुए, शाम हो गयी' तो थे 'इतने बदनसीब ज़फ़र दफन के लिए, दो गज जमीन भी न मिली कू-ए-यार में!'

अफसोस कि सवा अरब से ज्यादा लोगों का यह देश अपनी आजादी के इतने सालों बाद भी अपने आखिरी बादशाह की यह बदनसीबी नहीं दूर कर सका है!

1903 में भारतीयों का एक दल ज़फ़र को श्रद्धांजलि देने बर्मा गया तो किसी को पता ही नहीं था कि संबंधित कब्रिस्तान में उनकी कब्र कौन-सी है। अंग्रेजों ने उन्हें अपमानित करने के लिए बर्मा में एक जूनियर अधिकारी के गैरेज में कैद कर रखा था और सात नवंबर, 1862 को निधन और यंगून के एक कब्रिस्तान में दफन के वक्त भी उनकी गरिमा का खयाल नहीं रखा था।

वे डरे हुए थे कि ज़फ़र के इंतकाल की खबर फैलने से भारत में एक बार फिर बगावत भड़क सकती है। इसलिए उन्होंने सारी रस्में गुपचुप ढंग से जैसे-तैसे निपटा डाली थीं। भारतवासियों को इस बाबत कोई पखवारे भर बाद पता चला था।

1907 में बढ़ते जनदबाव के बीच ज़फ़र की कब्र को चिह्नित करके वहां एक शिलालेख लगाया गया, लेकिन 1991 में एक खुदाई के वक्त पता चला कि वास्तविक कब्र उस शिलालेख से 25 फीट दूर है। कई लोग अब उसे ज़फ़र की दरगाह कहते हैं। 1994 में भारत ने उसके बाहर एक प्रार्थना सभागार बनवाया और अब म्यांमार में ज़फ़र से जुड़े स्थलों की देखरेख बहादुर शाह म्यूजियम कमेटी करती है। पहले यह काम उनके वारिसों का ट्रस्ट किया करता था।

मनमोहन सिंह के राज में 1857 की डेढ़ सौंवीं वर्षगांठ आयी और उसे देश भर में उत्साहपूर्वक मनाया गया तो बार-बार आवाज उठी कि ज़फ़र के अवशेषों को बर्मा से भारत लाना और महरौली में सूफी संत ख्वाजा बख्तियार काकी के आस्ताने के करीब दफनाना चाहिए। ताकि कू-ए-यार में दो गज जमीन की उनकी हसरत पूरी हो जाये।

दरअसल, ज़फ़र ने दिल्ली में रहते अपने सुपुर्द-ए-खाक



होने के लिए वही जगह चुन रखी थी। 2006 के अंत में मनमोहन के सरकारी निवास पर देश के नामचीन कलाकारों, समाजसेवियों, राजनेताओं व पत्रकारों आदि की बैठक में सर्वोदय नेता और सांसद निर्मला देशपांडे के इस आशय के सुझाव को सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया था।

बैठक में सोनिया गांधी, लालकृष्ण आडवाणी, एबी वर्धन, प्रकाश करात, मुलायम सिंह यादव, लालू प्रसाद यादव, नीतीश कुमार जैसी पक्ष विपक्ष की अनेक हस्तियों की उपस्थिति से लगा था कि अब इस काम में कतई देर नहीं होगी। इसलिए भी कि म्यांमार सरकार भी इसमें बाधक नहीं थी।

दरअसल, अंग्रेजों ने ज़ाफ़र को भारत से बर्मा निर्वासित किया तो बर्मा के मांडले के शासक को निर्वासित करके महाराष्ट्र के रत्नागिरी में ले आये थे। बर्मा की, जिसका नाम अब बदलकर म्यांमार हो चुका है, सरकार चाहती थी कि भारत के साथ उक्त शासक व ज़ाफ़र के अवशेषों की अदला-बदली कर ली जाये। लेकिन जैसी कि हमारी सत्ताओं की आदत है, डेढ़ सौवों वर्षगांठ गयी और बात खत्म हो गई।

नेता जी सुभाषचंद्र बोस ने 1942 में अपना

ऐतिहासिक 'दिल्ली चलो' अभियान ज़ाफ़र की कब्र पर प्रार्थना करके शुरू किया था। उनके चालक रहे कर्नल निजामुद्दीन का दावा था कि चालीस के दशक में नेता जी ने, जहां ज़ाफ़र को दफन किया गया था, उस कब्रिस्तान में गेट लगवाया और उनकी कब्र को पक्की कराया था। कब्र के सामने चहारदीवारी भी बनवायी थी।

साफ है कि अंग्रेजों ने ज़ाफ़र के साथ जो सलूक किया, दुश्मन के तौर पर उन्हें वही करना ही चाहिए था, लेकिन अब हम वह नहीं कर रहे जो ज़ाफ़र के देश और वारिस के तौर पर करना चाहिए। लाहौर में उनके नाम पर सड़क है और बांग्लादेश में पुराने ढाका के विक्टोरिया पार्क का नामकरण उनके नाम पर कर दिया गया है। लेकिन हमारा भारत अभी भी उन्हें कू-ए-यार में दो गज जमीन का मोहताज बनाये हुए है।

आखिर उनकी बदनसीबी अभी और कितनी लंबी होगी? कब तक उन्हें इतने भर से संतुष्ट रहना होगा कि भारत, पाकिस्तान या बांग्लादेश के शासक या नेता म्यांमार जाते हैं तो उनकी कब्र पर अकीदत के फूल चढ़ाते हैं।

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं और फ़ैजाबाद में रहते हैं।)

---

## नहीं रहे युवा दास्तानगो

### अंकित चड्ढा

---

उर्दू में लंबी कहानियां कहने की कला 'दास्तानगोई' को फिर से जीवन देने में जुटे युवा दास्तानगो अंकित चड्ढा की 30 वर्ष की आयु में मौत हो गई। दिल्ली के लोधी रोड स्थित शवदाह गृह में 11 मई को उनका अंतिम संस्कार कर दिया गया।

वह पुणे अपनी एक प्रस्तुति देने गए थे, यहां से 62 किलोमीटर दूर कामशेट के पास उकसान झील घूमने के दौरान उसका पैर फिसल गया और झील में डूबने से उनकी मौत हो गई। वह एक दोस्त के साथ घूमने के लिए झील गए हुए थे।

घटना परसों यानी नौ मई की शाम की है। डूबने के कई घंटे बाद उनके शव को बाहर निकाला जा सका।

अंकित पुणे के कल्याणी नगर में 12 मई को अपनी प्रस्तुति देने वाले थे। उनके परिवार में उनके माता-पिता और बड़े भाई हैं।

अंकित पिछले कई सालों से दास्तानगोई कर रहे थे। मुख्य तौर पर वह कबीर की वाणी को उर्दू की दास्तान में पिरोकर सुनाने के लिए जाने जाते थे। वह जश्न-ए-रेख्ता, कबीर उत्सव जैसे महत्वपूर्ण मंच पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराने



के साथ साथ देश विदेश में भी प्रस्तुति दे चुके थे।

13वीं सदी की इस प्रसिद्ध कला दास्तानगोई को फिर से ज़िंदा करने के लिए जाने जाने वाले महमूद फ़ारूकी के होनहार शागिर्दों में से एक अंकित चड्ढा ने कई नई और एकदम अनूठी दास्तानें लिखीं जिन्हें खूब सराहा गया।

इन दास्तानों में अमीर खुसरो की दास्तान, कबीर की दास्तान, मोबाइल फोन की दास्तान, कॉरपोरेट जगत की दास्तान और उर्दू शायर मजाज़ लखनवी की दास्तान प्रमुख हैं।

तकरीबन तीन साल पहले तहलका पत्रिका में प्रकाशित अपने एक लेख में अंकित ने कहा था, 'मेरा मानना है कि हर वो शख्स जिसे लगता है कि वो कहानी सुनाने की हमारी सदियों पुरानी इस परंपरा को फिर से ज़िंदा करना चाहता है- वो शख्स एक बीज है। ये बीज सुनाने वाले यानी 'दास्तानगो' भी हो सकते हैं, और सुनने वाले यानी 'सामईन' भी।'

अंकित की वेबसाइट के अनुसार, वह कबीर, रहीम, दाराशिकोह, मजाज़ और अमीर खुसरो पर आधारित दास्तानें सुनाया करते थे। वह ग़ैर सरकारी संगठनों के साथ काम किया करते थे ताकि आधुनिक कहानियों को दास्तानगोई के माध्यम से लोगों तक पहुंचा सकें।

स्कॉल डॉट इन की रिपोर्ट के अनुसार, अंकित के बारे में कहा जाता है कि वह सबसे युवा दास्तानगो थे।

अंकित दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदू कॉलेज से इतिहास में ग्रेजुएट थे। महमूद फ़ारूकी के साथ दास्तानगोई करने से पहले वह अपने स्ट्रीट थियेटर संगठन इब्तिदा के अध्यक्ष भी थे।

इंडियन एक्सप्रेस से बातचीत में महमूद फ़ारूकी कहते हैं, 'वह बहुत योग्य और अच्छा इंसान था। वह दास्तानगोई को नई ऊंचाइयों पर ले जा रहा था। यह एक अपूर्णीय क्षति है। मैंने उसे छह साल तक सिखाया है।'

अमीर खुसरो के प्रभाव की वजह से उन्होंने 'अमीर खुसरो : द मैन इन रिडल्स' (2016) नाम की किताब लिख चुके हैं। इसके अलावा इलस्ट्रेटर राजेश वेंगड़ और नीना सबनानी के साथ 2014 में 'आई माई गांधी स्टोरी' के सह-लेखक भी थे।

उसे दास्तान कहने के अपने हुनर में इस क़दर महारत हासिल थी कि वह अपने अल्फाज़-ओ-अंदाज़ से सामने बैठे लोगों को बांध लेता था। दास्तानगोई को एक अलग ही मुकाम पर पहुंचाने वाले अंकित चड्ढा आज खुद एक दास्तान

हो गए।

13वीं सदी की उर्दू कहानी कहने की कला 'दास्तानगोई' को नया जीवन देने में 2011 से जुटे युवा दास्तानगो अंकित चड्ढा का कार्यक्रम 'दास्तां ढाई आखर की' 12 मई को पुणे के ज्ञान अदब केंद्र पर होना था।

एक पुराने साक्षात्कार में चड्ढा ने कहा था कि कबीर की वाणी पर आधारित इस दास्तां को तैयार करने में उसका सात साल से अधिक वक़्त गुज़रा था। इस दास्तां में चड्ढा ने मौजूदा समय के मोबाइल, यूट्यूब इत्यादि तकनीकी पहलुओं के साथ-साथ, कबीर के प्रेम संवाद की कहानी को आपस में जोड़ने का काम किया था। दोहे और आम जिंदगी के बहुत से किस्से पिरोकर यह दास्तां तैयार की गई थी।

मध्यमवर्गीय पंजाबी परिवार में जन्मे चड्ढा की दास्तानगोई में कबीर के अलावा दाराशिकोह, अमीर खुसरो और रहीम का जिक्र तो था ही लेकिन महात्मा गांधी के जीवन को लेकर उनकी बुनी कहानी को देश-विदेश में पसंद किया गया।

चड्ढा ने अपनी पहली प्रस्तुति 2011 में दी थी और 2012-13 के दौरान उन्होंने अकेले प्रस्तुति देना शुरू कर दिया था।

पुणे की प्रस्तुति से पहले वह हाल ही में कबीर और गांधी की दास्तां पर सिप्टल और कैलिफोर्निया में अपनी प्रस्तुति देकर लौटे थे।

अंकित के गुरु लेखक और निर्देशक महमूद फ़ारूकी ने कहा, 'वह एक चमकता सितारा था और दास्तानगोई का वह अपना ही एक तरीका विकसित कर रहा था। उसने वास्तव में इस विधा में कई नए प्रयोग जोड़े थे। वह अपने सामने बैठे लोगों को अपने से जोड़ लेता था और यह काम कोई साफ़ दिल इंसान ही कर सकता है।'

उन्होंने कहा, 'वह फ़ारसी और उर्दू सीख रहा था और अपने काम को लगातार बेहतर कर रहा था।'

चड्ढा ने आम लोगों की तरह ही स्नातक के बाद नौकरी शुरू की लेकिन फिर उर्दू की इस विधा की तरफ उसका रुझान हुआ और उसके बाद उन्होंने नौकरी छोड़ इस राह को पकड़ लिया।

'जश्न-ए-रेख़ता' और 'महिंद्रा कबीर उत्सव' जैसे कार्यक्रमों में अपनी प्रतिभा का लोहा मनवा चुके अंकित चड्ढा ने हावर्ड, येल और टोरंटो जैसे विश्वविद्यालयों में भी अपनी प्रस्तुतियां दी थीं।

---

कार्ल मार्क्स :

जिनके सबसे बड़े अनुयायियों ने उनके

स्वप्न को एक गैर मामूली यातना में बदल दिया

ज़िंदगी पुस्तकालयों में बिता देने वाले कार्ल मार्क्स ने दुनियाभर में शायद सबसे ज्यादा लोगों को घरों से निकलकर अपनी दुनिया बदलने की प्रेरणा दी।

### ■ अपूर्वानंद



मार्क्स के दो सौ साल पूरे होने पर नये सिरे से मार्क्स पर बहस-मुबाहसा शुरू हुआ है। एक समय था जब मार्क्स, बौद्धिकता और जवानी का रिश्ता सहज माना जाता था। मार्क्सवादी होने का एक और अर्थ था परिवर्तनकामी होना, बल्कि परिवर्तनकारी होना। अब परिवर्तन का जिम्मा सरकार ने ही ले लिया है। भारत की सरकार ने अपनी एक संस्था का नाम ही दे दिया है : नेशनल इंस्टिट्यूट फॉर ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ़ इंडिया।

नौजवान मार्क्स के करीब आते थे बदलाव की प्रेरणा के साथ। यह कहना अधिक उचित है कि बदलाव की तड़प ही उन्हें मार्क्स के करीब ले जाती थी, यह नहीं कि मार्क्स से होकर वे बदलाव की राह पर आते थे। लेकिन यह बदलाव कोई रोज़ घटित होने वाली चीज़ नहीं थी। हर तीसरे रोज़ जो परिवर्तन रथ निकला करते हैं, उन पर सवार होकर उसे न आना था।

मार्क्सवादी होने का मतलब भौतिकतावादी होना है। लेकिन मार्क्स का परिवर्तन व्यक्तिगत और सामाजिक, दोनों ही रूपों में मात्र जीवन की भौतिक परिस्थितियों में नहीं, बल्कि जीवन के प्रति नज़रिए में तब्दीली की महत्वाकांक्षा से प्रेरित है। इस रूप में यह आध्यात्मिक मिशन मालूम पड़ता है।

बदलाव या परिवर्तन मार्क्सवादी चिंतन का उद्देश्य है या उसकी धुरी है। 'दार्शनिकों ने अब तक दुनिया की व्याख्या की है जब कि सवाल उसे बदलने का है' यह मार्क्सवादी उक्ति मार्क्स को दूसरे विचारकों

से बिलकुल अलग ही स्तर पर स्थापित कर देती है।

टेरी इगलटन की एक बात इस संदर्भ में बड़ी दिलचस्प है। उन्होंने मार्क्सवादी होने की मुश्किल की ओर इशारा किया है। वे कहते हैं कि मार्क्सवादी होने का अर्थ ही है कुछ करना। यह कुछ-कुछ बढ़ई होने की तरह है। बढ़ई होने का मतलब है कुछ बनाना, सिर्फ किसी शिल्प की कल्पना करना नहीं। इसलिए दार्शनिक और विचारक अवश्य ही और भी बड़े हुए हैं और उनकी मेधा किसी से कम नहीं, लेकिन 'विचार करने का अर्थ ही यथास्थिति को बदल देना है', यह जितना मार्क्स के साथ जुड़ा है, उतना शायद किसी और के साथ नहीं। 'मैं सोचता हूँ, इसलिए हूँ' की जगह 'मैं करता हूँ, इसीलिए हूँ', मार्क्स के कहे बिना ही उनके चिंतन का सार है।

जब क्रिया की बात हो रही हो तो हम भारतीय भी एक दावा गांधी की शकल में पेश कर सकते हैं। जैसे मार्क्सवादी होने का मतलब ही है क्रियाशील होना, वैसे ही आप सिर्फ चिंतक होकर गांधीवादी नहीं हो सकते। गांधी एक जगह मार्क्स से एक कदम आगे जान पड़ते हैं- उन्होंने अपने राजनीतिक या सामाजिक कार्यक्रम से पहले उसे जायज ठहराने के लिए किसी मुकम्मल दार्शनिक ढांचे को खड़ा करने की जरूरत नहीं समझी। गांधी के दर्शन की बात दूसरों ने की, गांधी ने अपने कर्म के जरिए ही उसे विकसित किया।

प्रायः मार्क्सवादी गांधी को मार्क्स से इसीलिए कमतर आंकते रहे हैं क्योंकि वे उनके उपक्रम को बौद्धिक कम, भावनात्मक अधिक मानते हैं। ऐसा लगता है कि गांधी कुछ-कुछ अन्तःप्रेरणा से काम कर रहे थे और इसीलिए कई लोगों को उनके आंदोलन में तार्किकता खोजने में कठिनाई मालूम पड़ती है। जान पड़ता है, मानो गांधी को खुदाई इलहाम होता था जो उन्हें उनके अगले



कदम की ओर ले जाता था। नेहरू जैसे वैज्ञानिक चेतना संपन्न बौद्धिक को भी वे एक जादूगर की तरह दिखलाई देते थे। उनके फैसलों से सहमत न होते हुए भी उनके साथ चलना जैसे किसी दैवी आदेश से हो रहा हो।

गांधी और मार्क्स में तुलना करके एक को दूसरे से श्रेष्ठ ठहराने का यहां इरादा नहीं और उससे अधिक गैर-मार्क्सवादी कार्य कुछ हो नहीं सकता। लेकिन एक अंतर जरूर है : मार्क्स अपने स्वप्न को पूरा करने के लिए कोई क्रियाशील अभियान जीवन पर्यंत चलाने वाले न थे, गांधी ने खुद एक बड़ा संगठन खड़ा किया और कई आंदोलनों का नेतृत्व भी किया।

एक दूसरे अर्थ में मार्क्स और गांधी एक जैसे जान पड़ते हैं। दोनों ने असंभव आदर्श की कल्पना की। गांधी का अहिंसक समाज और मार्क्स का वर्ग-विहीन समाज दोनों ही नामुमकिन ख्याल हैं। लेकिन वे इतने जरूरी जान पड़ते हैं कि उनकी तामीर में ज़रा भी देर नहीं की जा सकती या नहीं की जानी चाहिए। दूसरा, एक के बिना दूसरा समाज बन नहीं सकता।

मार्क्स की ताकत इससे जाहिर होती है कि ज़िंदगी पुस्तकालयों में बिता देने वाले व्यक्ति ने दुनिया भर में शायद सबसे बड़ी तादाद में लोगों को घरों से निकलकर अपनी दुनिया को बदल डालने के अभियान में डाल दिया। इससे भी बावजूद एक पूरी शताब्दी की

असफलता के, वह अभी भी संभावनापूर्ण लगता है।

मार्क्स की सफलता देखी गई थी समाजवादी क्रांतियों में : सोवियत संघ, साम्यवादी चीन, पूर्वी यूरोप में समाजवादी सरकारों के गठन में। लेकिन सत्ताधारी कम्युनिस्ट पार्टियों ने मार्क्सिय स्वप्न को एक गैर मामूली यातना में बदल दिया, सत्ता के यथार्थ ने उसके रूमान को झुलसा दिया। यह

भी दिलचस्प है जहां कम्युनिस्ट पार्टियों का शासन था, वहां मार्क्स के चिंतन में सर्जनात्मक योगदान न के बराबर हुआ। अगर हुआ भी तो उनके द्वारा जो शासक कम्युनिस्ट पार्टियों से प्रताड़ित किए गए थे। ऐसे निजामों ने अपने हर निर्णय के औचित्य साधन के लिए मार्क्स की सेवा ली, लेकिन हर उस व्यक्ति को संशोधनवादी भी ठहराया जो अपने ढंग से मार्क्स को पढ़ रहा था या उसकी व्याख्या कर रहा था।

विडंबना यह है कि मार्क्सिय चिंतन में अधिक साहसी प्रयोग गैर साम्यवादी यूरोप में किए गए और प्रायः ऐसा जिन्होंने किया, उन्हें कम्युनिस्ट पार्टियों ने निकाल बाहर किया। स्वतंत्र मार्क्सिय चिंतन और सत्ता के बीच यह उल्टा रिश्ता मार्क्स पर नहीं, इन पार्टियों पर प्रतिकूल टिप्पणी है।

उदारवादी अर्थव्यवस्था की उछाह का ज़ाग जब अमरीकी बैंकों के ढह जाने से बैठ गया, मार्क्स की तरफ पूंजीवादी दुनिया का ध्यान गया। मार्क्सिय साहित्य की बिक्री कई गुना बढ़ गई। अकादमिक विश्व में भी मार्क्सिय सिद्धांत व्यवस्था के प्रति दिलचस्पी बढ़ती हुई देखी गई। एक वक्त जिस देश ने कम्युनिस्ट को अमरीकीद्रोही का पर्यायवाची बना दिया था उसके विश्वविद्यालयों में मार्क्स बौद्धिक उत्तेजना के चिरंतन स्रोत बन गये हैं।

लेकिन क्या यही मार्क्स की सफलता है ?

### इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

प्लेट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067, भारत, टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904  
ई-मेल : [notowar.isd@gmail.com](mailto:notowar.isd@gmail.com) / वेबसाइट : [www.isd.net.in](http://www.isd.net.in)

केवल सीमित वितरण के लिए

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017